है। व्यवहार-सम्बन्धी बातोंसे लेकर गोपी-प्रेम तथा गोपीभावकी साधना-जैसे गूढतम एवं परम गोपनीय विषयोंपर भी इन पत्रोंमें यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। साधन, भजन, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य एवं भगवत्प्रेम आदि सभी आध्यात्मिक विषयोंका इनमें समावेश है। सभी विषयोंका शास्त्रों तथा निजी अनुभवके आधारपर बड़ा ही सुन्दर एवं हृदयग्राही विवेचन किया गया है। भाषा भी बड़ी सरल और रोचक है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि साधनाके मार्गपर चलनेवालोंको समय-समयपर जिन-जिन कठिनाइयोंका अनुभव होता है, जिन-जिन विघ्नोंका सामना करना पड़ता है तथा व्यवहारमें जो-जो अड़चनें आती हैं उन्हें हृदयङ्गम करके उनका यथोचित समाधान करनेकी चेष्टा इन पत्रोंके द्वारा की गयी है, जिनसे यह संग्रह सभी-के लिये बहुत ही कामकी चीज हो गया है। आशा है, अध्यात्म-प्रेमी जनता लेखकके अमूल्य अनुभवोंसे लाभ उठाकर जीवनको उन्नत एवं सफल बनानेकी चेष्टा करेगी। पुस्तक बड़ी न हो, इसके लिये कई भागोंमें निकालनेका विचार किया गया है।

रतनगढ़ (बीकानेर स्टेट)
माघ कृष्णा ८, सं० २००१ वि०

विनीत—
चिम्मनलाल गोस्वामी
(एम्० ए०, शास्त्री)

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय पृष्ठ-संख्या

इन पत्रोंके कुछ चुने हुए विषय

॥ श्रीहरिः ॥

लोक-परलोकका सुधार

कामके पत्र

[प्रथम भाग]

(१)

कुछ आवश्यक बातें

(१) भगवान्से प्रार्थना तो इसी बातकी करनी चाहिये कि 'वे जो ठीक समझें, वही होने दें। उसके विरुद्ध हमारे मनमें कोई चाह हो ही नहीं, हो तो वे उसे कभी पूरा न करें।

(२) ब्रह्मचर्यका खयाल रखनेकी बात मैंने आपके शरीरके खयाल-से लिखी थी। यों तो मनुस्मृतिके अनुसार—रजोधर्मके पहले चार दिन बाद देकर उसके बादकी बारह रात्रियोंमें अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, अमावास्या, पूर्णिमा, पर्वदिन, श्राद्धादिके दिन टालकर शेष रात्रियोंमें केवल दो बार स्त्री-सहवास करना भी ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्यरक्षाके उपाय गीताप्रेससे प्रकाशित 'ब्रह्मचर्य' नामक पुस्तकमें देखिये।

(३) रजस्वला स्त्रियोंको सूतके या काठके मनियोंकी माला

२१५९

फेरनी चाहिये। रामायण और गीताका पाठ अलगसे करना चाहिये। पुस्तकोंका स्पर्श न किया जाय तो अच्छा है।

(४) बलिवैश्वदेव न करनेमें कर्मलोपका दोष है, करनेमें पवित्रता आती है। हो सके तो रोज करना चाहिये।

(५) सारे संसारमें दुःख बढ़नेके कारण हैं—जीवोंके प्रारब्ध। आजकल जो—

(क) दम्भ, दर्प, काम, क्रोध, ईर्ष्या, कामना आदि फैले हैं,

(ख) भगवान्पर आस्था घट रही है,

(ग) भोग-सुखकी स्पृहा बढ़ रही है और

(घ) सभी बातोंमें जीवनका व्यवहार नकली–दिखावटी हो रहा है, श्रद्धा नष्ट हो रही है, सत्य जा रहा है, जीवन कृत्रिमतासे भर रहा है।

—यह भी दुःखका कारण है। इससे विपरीत होनेसे ही सुख हो सकता है।

(६) गृहस्थके लिये आवश्यक बात है भगवान्को याद रखते हुए भगवत्पूजाके भावसे कर्तव्यका पालन करना। गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासीके पालनीय धर्म मनुस्मृतिमें देखिये। सबसे अधिक परमावश्यक वस्तु है भगवान्की शरणागति और भगवदर्पणका सच्चा भाव।

(७) सबसे अधिक हानि भगवान्में अविश्वास, नकली जीवन, पापोंके आश्रय और दैवी-सम्पत्तिके त्यागसे हो रही है।

(८) स्त्रियों और बच्चोंमें बुरी आदत हो तो उन्हें प्रेमसे

समझाकर आवश्यकतानुसार बिना क्रोधके कभी डाँटकर और स्वयं उस बुरी आदतके विपरीत उत्तम आचरणका आदर्श उनके सामने रखकर उन्हें सुधारना चाहिये ।*

भगवान्‌की दयासे ही सब मोहका नाश हो सकता है। उनकी दयापर विश्वास कीजिये, यह आपके किये ही होगा। मुझमें ऐसी कोई ताकत नहीं है । यदि आप मुझमें श्रद्धा रखते हैं तो इस बातको सत्य मानिये । नहीं तो झूठा आदमी आपका क्या उपकार कर सकता है ?

शरणके योग्य तो एक श्रीभगवान् ही हैं, वही बल देंगे। उनसे प्रार्थना कीजिये ।

(९) ध्यान नहीं होता तो श्रीभगवन्नामका जप ही करें। श्वासके साथ मन्त्रजपकी जिस प्रकारसे चेष्टा करते हैं, वह ठीक ही है। भगवान्‌की कृपा-शक्तिपर विश्वास और सावधानी रखनेसे जप ठीक हो सकता है ।

(२)

विषयोंमें सुख नहीं है

× × × मौतके मुँहमें पड़े हुए मनुष्यका भोगोंकी तृष्णा रखना वैसा ही है जैसा कालसर्पके मुँहमें पड़े हुए मेंढकका मच्छरोंकी

---

* 'गीतातत्त्वाङ्क' छठे अध्यायकी व्याख्याको ध्यानसे पढ़िये । उससे आपको अपने प्रश्नका काफी उत्तर मिल जायगा ।

ओर झपटना ! पता नहीं कब मौत आ जाय । इसलिये भोगोंसे मन हटाकर दिन-रात भगवान्‌में मन लगाना चाहिये । जबतक स्वास्थ्य अच्छा है तभीतक भजनमें आसानीसे मन लगाया जा सकता है । अस्वस्थ होनेपर बिना अभ्यासके भगवान्‌का स्मरण होना भी कठिन हो जायगा । इसीसे भक्त प्रार्थना करता है—

कृष्ण त्वदीयपदपङ्कजपञ्जरान्ते अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः ।
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते ॥

'श्रीकृष्ण ! मेरा यह मनरूपी राजहंस तुम्हारे चरणकमलरूप पिंजरेमें आज ही प्रवेश कर जाय । प्राण निकलते समय जब कफ-वात-पित्तसे कण्ठ रुक जायगा, इन्द्रियाँ अशक्त हो जायँगी तब स्मरण तो दूर रहा, तुम्हारा नामोच्चारण भी नहीं हो सकेगा ।' अतएव अभीसे मनको भगवान्‌में लगाना और जीभसे उनके नामका जप आरम्भ कर देना चाहिये ।

धन-ऐश्वर्य, कुटुम्ब-परिवार सभी क्षणभङ्गुर हैं । इनकी प्राप्तिमें सुख तो है ही नहीं वरं दुःख ही बढ़ता है । संसारमें ऐसा कोई भी विचारशील पुरुष नहीं है जो विवेक-बुद्धिसे यह कह सकता हो कि इनमेंसे किसीसे भी उसे कोई सुख मिला है । यहाँकी प्रत्येक स्थितिमें विरोधी स्थिति वर्तमान है—सुख चाहते हैं मिलता है दुःख, स्वास्थ्य चाहते हैं आती है बीमारी, प्रकाशके पीछे अन्धकार लगा है, जवानीके साथ बुढ़ापा सटा है, जीवनका विरोधी मरण सिरपर सवार है । यहाँ कौन-सा सुख है, जिसमें आसक्त होकर मनुष्यको अपना जीवन बरबाद करना चाहिये । यह तो

मूर्खता है जो हम विषयोंमें सुख मानकर दुर्लभ मानव-जीवनको खो रहे हैं। भगवान् श्रीराम कहते हैं—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा गहइ परस मनि खोई॥

परन्तु विचार कर देखिये, मनुष्य सचमुच इसी तरह अपने अमृत-से मानव-जीवनको विषय-विष बटोरने और चाटनेमें ही खो रहा है। इसीसे उसे एकके बाद दूसरे—लगातार दुःखोंकी परम्परा-में ही रहना पड़ता है। याद रखना चाहिये, यहाँकी कोई भी चीज, कोई भी सम्बन्धी उसको दुःखोंसे नहीं छुड़ा सकता। भगवान्‌का भजन ही एक ऐसी चीज है जो मनुष्यको दुःखके सारे बन्धनोंसे छुड़ा सकता है। अतएव मन लगाकर खूब भजन कीजिये। बस रटते रहिये—

गोविन्द गोविन्द हरे मुरारे गोविन्द गोविन्द रथाङ्गपाणे।
गोविन्द गोविन्द मुकुन्द कृष्ण गोविन्द दामोदर माधवेति॥

---

(२)
घर छोड़नेकी आवश्यकता नहीं

आपका मैनपुरीका लिखा पत्र मिला। आपकी भावुकता सराहनीय है परन्तु प्रत्येक काम बहुत विचारके बाद करना चाहिये। आपकी अभी बाईस सालकी उम्र है। घरमें जवान पत्नी और छोटा बच्चा है—जो आपके ही आश्रित हैं। घरमें और लोग भी हैं

ऐसी हालतमें घबराकर घरसे निकल जाना कहाँतक उचित है, इसपर आपको गम्भीरतासे विचार करना चाहिये। आपने छः महीनेमें घरसे चले जानेका और फिर एकान्तमें रहनेका निश्चय किया है, सो तो ठीक है। परन्तु ऐसा एकान्त आपको कहाँ मिलेगा। जहाँ आपका चित्त भजनमें ही लगा रहे, ऐसी जगह दुनियामें आज कहाँ है? सच्चा एकान्त तो मनके निर्विषय होकर भगवत्परायण होनेमें है। आपको आजकी दुनियाका अनुभव नहीं है, इसीसे आप घरको 'मायाजाल' और बाहरको 'मायासे मुक्त' मानते हैं। अनुभव तो यह बतलाता है कि मायाका जाल घरकी अपेक्षा बाहर ज्यादा फैला है। घरमें तो एक जिम्मेवारी होती है, कर्तव्यका एक बोध जाग्रत् रहता है, जिससे जीवन प्रमादालस्यमें नहीं पड़ता। बाहर तो सारा जीवन बेजिम्मेवार हो जाता है। और यदि खाने-पहननेको अच्छा मिलनेका सुयोग हो गया तब तो प्रमादसे जीवन छा जाता है। घरसे घबराकर कभी नहीं भागना चाहिये। घरको अपना न मानकर भगवान्‌का मानिये और घर-वालोंको भगवान्‌की मूर्ति मानिये तथा घरहीमें रहकर घरकी वस्तुओं-के द्वारा तन-मन-धनसे उनकी नम्रतापूर्वक सेवा कीजिये। मुँहसे भगवान्‌का नाम लेते और मनको भगवान्‌में लगाते आपको कोई रोक नहीं सकता। फिर आप स्वयं ही लिखते हैं कि 'घरवाले हमें ईश्वरका भजन करनेसे रोकते नहीं हैं।' फिर आप क्यों भागना चाहते हैं? मेरे पास आजकल कम उम्रके विवाहित और अविवाहित युवकोंके ऐसे बहुत-से पत्र आते हैं, जो घबराकर घरसे भागना चाहते हैं। मैं सबसे यही निवेदन करना चाहता हूँ कि

भागनेसे ही भजन नहीं बनेगा, न मायाजाल ही छूटेगा और न भगवत्प्राप्ति होगी। सदाचारी, संयमी, सहनशील, नम्र और भजनके अभ्यासी बनिये। घरमें रहकर प्रतिकूलताका सहन कीजिये। बहुत जगह तो ऐसा होता है कि सहनशीलताके अभावसे ही ऐसी वृत्ति होती है—मनके प्रतिकूल किसी भी बातको सहनेकी शक्ति न होनेसे पिण्ड छुड़ाकर भागनेको मन होता है। यह कमजोरी है—त्याग नहीं; यह मनके अनुकूल परिस्थितिमें राग है—विषयोंसे वैराग्य नहीं। अतएव मेरी नम्र सम्मति तो यही है और बड़े बलके साथ दृढ़तापूर्वक मैं यह कहता हूँ कि आप इस अवस्थामें घर छोड़नेका विचार बिल्कुल त्याग दें और अपने स्वभावको सहिष्णु बनाकर माता-पिताकी और घरकी भगवद्भावसे सेवा करें।

(४)

धनवानोंका कर्तव्य

पत्र मिला, सब समाचार जाने। इधर मैं यहाँ नहीं था, इसीसे पत्रका उत्तर लिखनेमें देर हो गयी। आपको पता होगा—राजपूतानेके कुछ हिस्सेमें और पंजाबके हिसार जिलेमें भयानक अकाल पड़ा है। लाखों गायें और मनुष्य कष्टमें हैं। कलकत्तेके कुछ सहृदय महानुभावोंने अकालपीड़ित प्राणियोंके कष्टनिवारणार्थ एक समिति बनायी है। और उसकी ओरसे राजपूतानेमें कुछ सेवाका कार्य हो रहा है। वहाँकी दशा देखकर मनुष्यको बरबस रो देना पड़ता है। भारतमें अभी ऐसे बहुत पुरुष हैं जो बहुत सुखसे खाते-पीते हैं और

चाहें तो बहुतोंके पेटकी ज्वाला मिटा सकते हैं। खानेके पदार्थ भी—अन्न-चारा-घास इत्यादि भी कीमत देनेपर काफी परिमाणमें मिल सकते हैं। ऐसा होते हुए भी आज लाखों प्राणी अन्न और चारे-दाने बिना मरे जाते हैं, यह बहुत ही खेदकी बात है। मैं आपको सच लिख रहा हूँ, जब खाने बैठता हूँ और अपने सामने थालीमें घीसे चुपड़ी हुई रोटियाँ तथा कई तरहकी तरकारियाँ देखता हूँ और सोनेके समय जब रूईकी गद्दीपर सिरके नीचे तकिया लगाकर रजाई ओढ़कर सोना चाहता हूँ तब प्रायः उन कंकाल मात्र नंगे, भूखे, अपनेही-जैसे नर-नारियोंके चित्र आँखोंके सामने आ जाते हैं, भगवान्के राज्यमें सब न्याय ही होता है परन्तु अपनी ये सुखकी सामग्रियाँ तो वस्तुतः बहुत ही दुःख देनेवाली वस्तु मालूम होती हैं, यह बड़ी कमजोरी है कि ऐसा होनेपर भी मैं इन्हें छोड़ नहीं सकता और न उन नंगे-भूखोंके लिये कुछ कर ही सकता हूँ। यह है तो बड़े ही दुःखकी बात कि एक ही देशके—एक ही घरमें दस भाई-बहिनोंमें आठ-नौ नंगे भूखे रहें और दो-एक पेटभर खाकर सुखकी नींद सोवें। यह 'पेटभर खाना' और 'सुखकी नींद सोना' अवश्य ही चोरी है। और इस चोरीका फल भी मिलना ही चाहिये। आप मेरे मित्र हैं, आपको तो कुछ कहनेका मेरा किसी अंशमें अधिकार भी है परन्तु मैं तो उन सभी भाइयोंसे, जो कुछ सम्पन्न हैं, कम-से-काम जो अपने तथा अपने बाल-बच्चोंका अच्छी तरह भरण-पोषण करनेके बाद विलासितामें और मौज-शौकमें धन नष्ट करते हैं या बहुत कुछ बचाकर रख लेते हैं, कहना चाहता हूँ कि धनका व्यर्थ व्यय करना छोड़कर अथवा आगेके लिये जोड़ रखनेकी

धन त्यागकर गरीब, दुखी मनुष्यों और पशुओंके प्राण बचानेमें उसे लगाइये। तभी आपके धनकी सार्थकता है। नहीं तो, धनसे आपका सम्बन्ध तो छूट ही जायगा; उसे छोड़कर आप चले जायँगे या आपको छोड़कर वह दूसरोंके हाथोंमें चला जायगा। पछतावा-मात्र आपके पास रह जायगा। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

(३।१३)

'यज्ञ करनेके बाद शेष बचे हुए अन्नको खानेवाले उत्तम पुरुष सब पापोंसे छूटते हैं; परन्तु जो पापी मनुष्य केवल अपने ही भरण-पोषणके लिये पकाते (धन पैदा करते) हैं वे तो पाप ही खाते हैं।'

देवता, ऋषि, माता-पिता आदि पितृगण, मनुष्य तथा अन्यान्य प्राणी इन पाँचोंसे अनवरत सहायता प्राप्त करके ही हम जीवन धारण करते हैं। अपनी कमाईसे इन पाँचोंका भरण-पोषण करना ही यज्ञ है। इस यज्ञद्वारा इन्हें तृप्त करके जो कुछ बचे वही यज्ञसे बचा हुआ है। उसीके खानेसे पापोंका नाश होता है। जो इन पाँचोंको कुछ भी न देकर अपने ही लिये कमाता है और आप ही उसे भोगता है वह तो पाप ही कमाता और पाप ही खाता है। [आपके पत्रमें लिखी बातोंका उत्तर लिखनेके पहले इतना यों ही लिख गया इसके लिये क्षमा करेंगे और इस निवेदनपर ध्यान अवश्य देंगे।]

भगवान्‌की चाह

आपके प्रश्नके उत्तरमें मेरा यह निवेदन है कि न तो धर

छोड़नेसे ही तत्काल भगवत्प्राप्ति होती है और न घरमें फँसे रहनेसे ही। भगवत्प्राप्ति होती है—भगवान्‌को पानेकी तीव्र आकाङ्क्षासे प्रेरित होकर की जानेवाली अखण्ड साधनासे। इस साधनामें सबसे पहले आवश्यक है भगवान्‌की चाह होनी। चाह इतनी बढ़े कि उसके सामने अन्य सारी इच्छाएँ दब जायँ—मर जायँ। किसी भी वस्तुमें मन न रहे—दिल न अटके। फिर चाहे घरमें रहें या घरसे बाहर। कहीं रहा जाय, जबतक शरीर है तबतक शरीरसे कुछ-न-कुछ करना ही पड़ेगा। हाँ, वह करना चाहिये अनासक्त होकर नाटकके पात्रकी भाँति। ऐसी निपुणताके साथ कि किसीको जरा भी असन्तोष न हो। पिता समझें ऐसा सुपुत्र किसीके नहीं है, माता समझें मेरा बेटा सबसे बढ़कर सुपूत है। भाई समझे कि यह तो राम या भरत-सा भाई है; स्त्री समझे कि ऐसा स्वामी मुझे बड़े पुण्यसे मिला है। स्वामी समझे—ऐसी पतिव्रता साध्वी स्त्री तो बस एक यही है। इसी प्रकार हमारे व्यवहारसे—जिनसे भी हमारा काम पड़े छोटे-बड़े—सभी सन्तुष्ट और परितृप्त हों, सभी हमसे अमृत लाभ करें, परन्तु हमारी दृष्टि सदा अपने लक्ष्यपर लगी रहे। प्रत्येक व्यवहारको करें भगवान्‌की सेवा या भगवान्‌का प्रिय कार्य समझकर। हमारा सोना-जागना, खाना-पीना, कहना-सुनना, रोना-हँसना, देना-लेना सभी हो केवल भगवान्‌के लिये—भगवान्‌की प्रीतिके लिये। अपने लिये कुछ भी न हो। अपनेको भी श्रीभगवान्‌के ही अर्पण कर दिया जाय। फिर किसी भी स्थिति-में न दुःख होगा, न चिन्ता व्यापेगी और न संसारके किसी काममें अड़चन ही आवेगी। नाटकके निपुण पात्रकी तरह सभी

खेल सुचारु रूपसे सम्पन्न होते रहेंगे। मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, हँसना-रोना सभी भगवान्की लीलाके मधुर अङ्ग हो जायँगे। इस प्रकारका अभ्यास करके देखिये। कुछ ही दिनोंमें अपूर्व शान्ति और आनन्दका अनुभव होगा। पाप-ताप तो अपने-आप ही दूर चले जायँगे!

---

(५)

धनका सदुपयोग

आपका पत्र मिले बहुत दिन हो गये। मैं जवाब नहीं लिख सका, क्षमा कीजियेगा। आपके पत्रको मैंने ध्यानसे पढ़ा। उसमें कुछ झुँझलाहट-सी प्रतीत होती है। अभावग्रस्त लोग आपको सहायताके लिये तंग करते हैं, इससे आपको ऊबना और झुँझलाना क्यों चाहिये? प्यासे प्राणी पानीके लिये जलाशयके पास ही तो जाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आप जगत्के सब प्राणियोंका दुःख दूर नहीं कर सकते। सबका तो दूर रहा, एकका भी दुःख दूर करना आपके-हमारे हाथकी बात नहीं है। प्राणियोंके दुःखोंका अन्त तो भगवत्कृपासे प्राप्त ज्ञानसे ही होगा। हमारा तो इतना ही काम है कि जब हमपर कोई विपत्ति आती है, तब हम जैसे अपनेको बचानेके लिये हाथ-पैर हिलाते हैं, वैसे ही अपने सामने जब किसी प्राणीपर विपत्ति आवे तो हमें अपनी शक्तिभर हाथ-पैर हिलाने चाहिये। सब प्राणी आपके पास आते ही कहाँ हैं? जो थोड़े-से आते हैं, वे भी (सम्भव है) आपकी हैसियतसे अधिक

हों तो आप उन्हें स्पष्ट कह सकते हैं कि हम आपकी सेवा नहीं कर सकते । या ऐसी कोई सुन्दर व्यवस्था कर सकते हैं, जिसमें आपकी हैसियत और उनकी आवश्यकताके अनुसार योग्य पात्रोंकी यथायोग्य सेवा भी हो जाय और आप तंग भी न हों । थोड़ी-सी सावधानी, नियमानुवर्तिता और उदारतायुक्त मजबूती रखनेसे ऐसा हो सकता है, यह भी एक कमजोरी है, इसे आप दूर कर सकते हैं ।

असली बात तो यह है कि भगवान्‌ने आपको जो कुछ दिया है, वह आपका नहीं है, भगवान्‌का है । आप उसके स्वामी नहीं हैं, आप तो उसकी रक्षा, व्यवस्था और भगवदाज्ञानुसार भगवदर्थ खर्च करनेवाले सेवकमात्र हैं । इस धनको बड़ी दक्षताके साथ भगवान्‌की सेवामें लगाना चाहिये । दक्षता यही कि दान करते समय परिवारके लोगोंको न भूल जायँ, धूर्तोंके द्वारा ठगे न जायँ और योग्य पात्र कभी विमुख न लौटें । दानकी दूकान खोलनेकी जरूरत नहीं, परन्तु उचित अवसर प्राप्त होनेपर हाथ रोकना भी नहीं चाहिये । जहाँ अभाव है, वहाँ भगवान् ही उन लोगोंसे उस अभावकी पूर्ति करवाना चाहते हैं, जिनको भगवान्‌ने इस योग्य बनाया है । यह तो उनका सौभाग्य है जो उन्हें भगवान्‌की चीज भगवान्‌की सेवामें लगानेका सुअवसर मिल रहा है । अतएव आपके पास जब कोई अभावयुक्त बहिन-भाई सहायताके लिये आवें तब आपको हृदयसे उनका स्वागत करना चाहिये, और उचित जाँचके बाद यदि वे आपको योग्य पात्र जान पड़ें तो उनकी यथायोग्य सेवा करके अपनेको धन्य मानना चाहिये और आनन्द मनाना

चाहिये इस बातका कि आप भगवान्‌की वस्तुके द्वारा भगवान्‌की सेवा होनेमें 'निमित्त' बन रहे हैं।

आपके द्वारा जिनकी सेवा हो, उनपर कभी अहसान नहीं जताना चाहिये। न यही मानना चाहिये कि वे आपसे निम्नश्रेणीके हैं। धन न होनेसे वस्तुतः कोई नीचा नहीं हो जाता। नीचा माननेवाले ही नीचे होते हैं। धन या पदका न तो कभी घमंड करना चाहिये और न धनके या पदके बलपर किसीको अपनेसे नीचा मानकर उसका तिरस्कार ही करना चाहिये। बल्कि ऐसा व्यवहार करना चाहिये, जिसमें आपसे सहायता पाकर किसीको कभी आपके सामने सकुचाना न पड़े—सिर न झुकाना पड़े। आपको यही मानना चाहिये कि आपने उसका हक ही उसको दिया है। वह उपकार मानकर कृतज्ञ हो तो यह उसका कर्तव्य है, परन्तु आपको तो यही मानना चाहिये कि मैंने उसका कोई उपकार नहीं किया है। वस्तुतः किसीको आप कुछ देते हैं तो आपका ही उपकार होता है।

१—भगवान्‌की चीज भगवान्‌की सेवामें लगी, आप बेईमानीसे बचे और भगवान्‌के दरबारमें ईमानदारीका इनाम पानेके अधिकारी हो गये।

२—धनका सदुपयोग हुआ जो आपकी सद्गतिमें कारण है—धनकी तीन गति होती है—दान, भोग और नाश। आपका कमाया हुआ आपके या दूसरे किसीके द्वारा बुरे काममें लगता तो आपको दुर्गति भोगनी पड़ती।

३—दानसे आपकी कीर्ति हुई, उसका और उसके परिवारका आशीर्वाद मिला। किसीको उचित वेतन या हिस्सा देकर रक्खा तो आपके व्यापारका काम ठीक चला, जिससे आपको लाभ पहुँचा। अच्छे आदमियोंसे आपकी प्रीति और मैत्री हुई जो समयपर विपत्तिमें आपकी सहायता देनेवाली होगी।

४—आपको तृप्ति हुई, जिससे आनन्द प्राप्त हुआ। इस प्रकार वस्तुतः आपका ही उपकार हुआ।

'देकर भूल जायँ और लेकर याद रक्खें।' 'किसीका भला करके भूल जायँ और बुरा करके याद रक्खें।' 'किसीके द्वारा अपना बुरा होनेपर भूल जायँ और भला होनेपर याद रक्खें।'

संतोंकी इस उक्तिको याद रखना चाहिये। नीचे लिखी सात बातें सदा याद रखनेकी हैं—

(१) नौकर और मजदूरोंको अपनेसे नीचा समझकर उनका अपमान न करें। उनको अपने धनका हिस्सेदार समझें और जहाँतक हो, उन्हें इतनी मजदूरी दें जिससे उनके बाल-बच्चोंको अन्न-वस्त्रका कभी अभाव न रहे। विपत्ति, रोग और अभावके समय सहानुभूतिपूर्ण हृदयसे उनकी विशेष सेवा करें।

(२) हो सके तो सबमें भगवद्बुद्धि करके भगवत्सेवाके भावसे सबके साथ यथायोग्य वर्ताव करते हुए उनकी सेवा करें।

(३) दूसरोंके साथ वैसा ही बर्ताव करें, जैसा दूसरोंसे हम अपने प्रति चाहते हैं।

(४) सबमें आत्मभाव रखकर यथासाध्य दूसरोंके दुःखोंको अपना दुःख समझकर जैसे अपना दुःख दूर करनेकी चेष्टा की जाती है, वैसी ही लगनके साथ उनका दुःख दूर करनेकी चेष्टा करें।

(५) संतोंका तो यह स्वभाव होता है कि वे अपने दुःखकी तो परवा नहीं करते, परन्तु दूसरोंके दुःख और अधःपतनसे असह्य पीड़ाका अनुभव करते हैं और बड़ी लगनके साथ शक्तिभर उचित उपाय करके उनका दुःख दूर करते और उन्हें ऊपर उठाकर गले लगाते हैं। संतोंके इस आदर्शपर बराबर विचार करें।

(६) मरनेके बाद धन यहीं रह जायगा। अपने हाथसे भगवान्‌की सेवामें लगा दिये जानेमें ही धनकी सार्थकता है। इस सिद्धान्तको सत्य मानकर घरवालोंके लिये उचित भाग रखकर शेष सब योग्य पात्रोंमें अपने ही हाथों दान, भेंट, वेतन, वितरण, कमीशन, भाग आदिके रूपमें सत्कारपूर्वक व्यय कर देना चाहिये।

(७) अभावग्रस्त लोग सहायता माँगें तो तंग आकर उनका कभी जरा भी अपमान नहीं करें। बल्कि यथाशक्ति उनकी सेवा करें। इसीमें धनका सदुपयोग है। न हो सके तो शान्तिपूर्वक विनम्र शब्दोंमें परन्तु मजबूतीके साथ अपनी असमर्थता प्रकट कर देनी चाहिये।

(६)

विपत्ति और निन्दासे लाभ

आपका पत्र मिला। विपत्तिका हाल मालूम हुआ। सचमुच विपत्तिमें ही मनुष्यके धैर्य और धर्मका पता लगता है; परन्तु यह विश्वास रखिये, जिनका जीवन केवल आराममें ही बीतता है, उनके लिये जीवनमें पूर्ण विकास और पूर्ण परिणति बहुत कठिन हो जाती है। वे न तो अपनेको भलीभाँति परख—पहचान सकते हैं और न दूसरेकी यथार्थ स्थितिका ही अनुभव कर सकते हैं। वे प्राय: अर्धविकसित और पाषाणहृदय ही बने रह जाते हैं। इसीसे बुद्धिमान् लोग विपत्तिसे घबराते नहीं। वे जानते हैं कि जो लोग 'हाँ-हुजूर' कहनेवाले खुशामदियों, सेवा करनेवाले नौकरों और तारीफके पुल बाँधनेवाले स्वार्थियोंसे घिरे रहकर इन्द्रियसुखभोगके आराममें लगे रहते हैं, वे भगवत्कृपाके परम लाभसे प्राय: वञ्चित ही रहते हैं। विपत्तिमें धीरज न छोड़कर उसे भगवान्‌की देन मानकर सम्पत्तिके रूपमें परिणत कर लेना चाहिये। फिर विपत्तिका दु:ख मिटते देर न लगेगी।

यही बात निन्दा करनेवाले भाइयोंके सम्बन्धमें समझिये। आप यह मानें कि आपकी जितनी ही निन्दा होती है, उतने ही आपके पातक धुलते हैं। निन्दा करनेवाले तो बिना पैसेके धोबी हैं, हमारे अंदर जरा-भी मैल नहीं रहने देना चाहते। ढूँढ़-ढूँढ़कर हमारे जीवनके एक-एक दागको साफ करना चाहते हैं, वे तो हमारे बड़े उपकारी हैं। हमारे पाप धोने जाकर जो स्वाभाविक

ही हमारे पापका हिस्सा लेनेको तैयार हैं, वे क्या हमारे कम उपकारी हैं ? एक तरहसे उनका यह त्याग है । आपकी निन्दा होती है, यह वस्तुतः बहुत अच्छा होता है । जिसके कार्योंकी कड़ी समालोचना कोई नहीं करता, वह असलमें बड़ा ही अभागा है । आप तो भाग्यवान् हैं; जो आपको इतने निन्दा करनेवाले मिल गये हैं । निन्दकोंसे कभी न तो द्वेष करना चाहिये, न उन्हें रोकना चाहिये, और न मनमें बदला लेनेकी ही कोई भावना करनी चाहिये । हाँ, उनके बतलाये हुए दोषोंपर धीरज तथा शान्तिके साथ विचार करना चाहिये और उनमेंसे एक भी दोष अपने अंदर जान पड़े तो उसे दृढ़ता और साहसके साथ दूर करके मन-ही-मन निन्दकोंका उपकार मानना चाहिये ।

विपत्तिसे डरनेसे विपत्तिका दुःख बढ़ता है, उत्साह टूटता है और मन निराशासे भर जाता है । सावन-भादोंमें काले-काले बादलोंकी बड़ी घनघोर घटा आती है, फिर थोड़ी ही देरमें आकाश साफ हो जाता है । इसी प्रकार ये विपत्तिके बादल भी हट जायँगे । भगवान् और धर्मका दृढ़ सहारा पकड़े रखकर साहस तथा धैर्यके साथ विपत्तिका सामना करना चाहिये । विपत्तिसे त्राण पानेका सबसे सुन्दर उपाय है—भगवान्में चित्त लगाकर उनकी प्रार्थना करना । भगवान्ने कहा है—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि । (गीता १८ । ५८)

'मुझमें चित्त लगानेपर तू मेरी कृपासे सारे सङ्कटोंसे पार हो जायगा ।'

भगवान्के इन वचनोंपर विश्वास करके उनमें चित्त लगाना

चाहिये। उनकी कृपासे विपत्तिका नाश होते देर नहीं लगेगी। बाहरी स्थिति प्रारब्धके किसी प्रतिबन्धकसे यदि कुछ समयतक प्रतिकूल भी रहेगी, तो भी मानसिक पीड़ारूप विपत्तिका नाश तो हो ही जायगा। यह सर्वथा सत्य है।
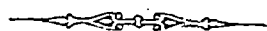
(७)

जगत्‌का स्वरूप और मनुष्यका कर्तव्य

सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिले बहुत दिन हो गये, उत्तर लिखनेमें विलम्ब हो गया, इसके लिये क्षमा करें। आपके विस्तृत पत्रके उत्तरमें मेरा तो यही निवेदन है कि इस दृश्यमान जगत्‌में जन्म-मरणका खेल अविराम चल रहा है। यहाँ इस प्रकृतिके जादूघरमें कुछ भी स्थिर या नित्य नहीं है। संहारको हृदयसे लगाये हुए ही सृजनका उदय होता है। आज जो सुन्दर है, मनोहर है, सौन्दर्य-माधुर्यसे भरा है, सरल बालकेलिसे सबको प्रमुदित कर रहा है, वही कुछ दिनोंमें यौवन, जरा और व्याधिकी घाटियोंको लाँघता हुआ आसन्नमृत्यु होकर—अत्यन्त कुरूप, भीषण, मलिन, बीभत्स, दुर्गन्धयुक्त और महान् दुःख-दोषमय बनकर सबके लिये कष्टप्रद हो जाता है और अन्तमें चेतन आत्मायुक्त सूक्ष्मशरीरसे वियुक्त होकर तो वह सर्वथा घृणित, हेय, अस्पृश्य हो जाता है एवं बिना किसी सहानुभूतिके हम उसे श्मशानमें ले जाकर फूँक डालते हैं या भीषण सुनसान स्थानमें जमीन खोदकर गाड़ देते हैं। यही तो परिणाम है इस शरीरका! आज प्यारी पत्नी, प्राण-

प्रियतम पति, श्रद्धास्पद माता-पिता, अभिन्नहृदय मित्र, प्राणोंके पुतले प्यारे पुत्र आदिको परस्पर पाकर सब अपनेको परम सुखी समझते हैं, सबके प्राण हँसते हैं; परन्तु दूसरे ही दिन मृत्युके भयानक आघातसे हमारे ये प्राणप्यारे आत्मीय निधन हो जाते हैं, हमारा प्यारका भण्डार लूट लिया जाता है। हम हाय-हाय करते हैं, रोते हैं, चिल्लाते हैं, पर कुछ भी नहीं कर पाते। यही हाल संसारकी सभी चीजोंका है। असलमें यह अपनापन, यह ममता ही हमारे दुःखोंमें हेतु है। जो पाकर हँसता है, उसको खोकर उससे कई गुना अधिक रोना ही पड़ता है, और यहाँका यह पाना होता ही है खोनेके लिये—जन्म होता ही है मृत्युके लिये—संयोग उत्पन्न ही होता है वियोगके निश्चित विधानको साथ लेकर ! हम कुछ दिन रोते हैं, दुखी होते हैं, फिर उसी भाँति हम भी इस चोलेको छोड़कर नयेके लिये चलते हैं; चोला पुराना होनेपर भी मोहवश छोड़ते हम घबड़ाते हैं; ममत्वके कारण किसी प्रकारकी भी जरा भी विनाशकी आशङ्का हमें व्याकुल कर देती है; परन्तु विनाश तो अवश्यम्भावी है; नवीन सृजनके लिये उसकी आवश्यकता है, वह होता ही है और होता ही रहेगा। कबतक ? सो कौन कह सकता है। परन्तु इतना तो कहा जा सकता है कि यह जन्म-मरणयुक्त जगत् चाहे सदा रहे; परन्तु इसमें हमारा जो विषयोंके साथ ममत्वका सम्बन्ध है, वह तो सदा कभी नहीं रहेगा। आज हम अपने इस शरीरमें माता, पिता, स्त्री, स्वामी, पुत्र-कन्या आदिसे प्रेम करते हैं, उनके बिना क्षणभर भी नहीं रह सकते। उनका जरा-सा अदर्शन भी हमें असह्य हो जाता है। पर जब हम उन्हें

छोड़ जाते हैं और दूसरे चोलेमें पहुँच जाते हैं, तब उनकी याद भी नहीं करते। न माल्म कितनी वार कितनी योनियोंमें हमारे प्रिय माता, पिता, स्त्री, पुत्र, यश, कीर्ति, घर, जमीन हो चुके हैं, परन्तु आज हमें उनकी याद भी नहीं है। हमारे वे पहलेके माता-पिता कहाँ—किस दशामें हैं। हमारी प्राणप्रियतमा पत्नी किस शरीरमें है, उसकी क्या दशा है। हमारे आत्मासे भी बढ़कर प्यारे पुत्र-पौत्र किस स्थितिमें हैं। हमें क्या उनका कुछ भी पता है? हमें उनकी दशा जाननेके लिये कुछ भी उत्कण्ठा, इच्छा या जिज्ञासा है, हम उन्हें भूल गये हैं। जैसे हम उन्हें भूल गये हैं, वैसे ही वे भी हमें भूल गये हैं। उनको भूलकर आज हम अपने नये संसारमें, नये घरमें, नये सम्वन्धियोंके प्रेममें मस्त हैं। आगे चलकर इनको भी भूल जायँगे। ऐसे विनाशी क्षणस्थायी सम्बन्धको यथार्थ सम्बन्ध समझकर सुखी-दुखी होना मूर्खता नहीं तो क्या है? ऐसे सम्बन्धको लेकर ममत्व करना और फिर रोना-पीटना धोखा ही तो है। इसमें जो नित्य है, सत्य है, जिससे कभी विछोह नहीं होता, जो सदा साथ ही रहता है और रहेगा उसीसे प्रेम करना चाहिये। वे हैं श्रीकृष्ण। उन्हींके अनेकों नाम हैं। हैं वे एक ही। वे ही हमारे सब अवस्थाओंके और सब समयके मित्र हैं; वे नित्य सुन्दर हैं, मधुर हैं। वे सदाके संगी हैं, वे हमारे प्राणोंके प्राण हैं, आत्माके आत्मा हैं। इन श्रीकृष्णको छोड़कर अन्य जिस किसीसे भी प्रेम करोगे, उसीमें धोखा होगा, जिसको चाहोगे, वही दगा देगा। न माल्म हमने कितनी योनियोंमें सुखके संसार रचे हैं, वहाँ हमारे सभी सम्बन्धी थे। हम सबको धोखा

दे आये। आज उनकी तनिक भी चिन्ता हमें नहीं है। वे हमसे प्रेम करते थे; परन्तु हमसे उन्होंने क्या पाया ? बस, यही बात है। इसलिये एकमात्र श्रीकृष्णको ही अपना समझो। उन्हींसे प्रेम करो। सबमें उन्हींको देखकर फिर सबसे प्रेम करो। किसीमें खास ममत्व नहीं करना चाहिये। जीवन-मृत्यु उनका—श्रीकृष्णका खेल है। सबमें सब समय सब ओरसे उन्हींको देखो, उन्हींको पकड़ लो तभी जीवन सार्थक होगा, तभी सुखके, सच्चे सुखके—परमानन्दके यथार्थ दर्शन होंगे।

(८)

जीवनकी सार्थकता

काम, क्रोध, लोभ, मोह और प्रमाद आदिका नाश भगवत्कृपासे भगवान्‌पर पूर्ण विश्वास होनेपर ही होता है। इससे पहले वे किसी-न-किसी रूपमें रहते ही हैं। श्रीभगवान्‌के नामका जप जैसे बने, वैसे ही करते रहिये। करते-करते नामके प्रतापसे विश्वास बढ़ेगा; न घबराइयेगा, न इनसे हार मानियेगा। भगवान्‌का आश्रय चाहनेवाला तो इनका नाश करके ही दम लेता है। इनके नाशका उपाय बस, भगवद्विश्वास है—जो भजनसे प्राप्त होता है।

मैं तो तुच्छ प्राणी हूँ। आप विश्वास कीजिये, श्रीभगवान् हम सभीके सुहृद् हैं। और वे सर्वज्ञ हैं, इसलिये हमारी स्थितिसे पूरे जानकार भी हैं। तथा इसीके साथ वे सर्वशक्तिमान् भी हैं। बस,

उनपर विश्वास कीजिये । फिर निश्चय ही परम कल्याण होगा, और आपको सच्ची सुख-शान्ति मिल जायगी । साधन-बलसे कुछ नहीं होना है—यह मान लिया सो ठीक है । साधनका बल रखिये भी मत । बल रखिये भगवत्कृपाका । क्या छोटे बच्चेको माँके आश्रयके सिवा और कोई बल होता है ? अहाहा ! भगवान्-रूपी माँ सदा अपना आँचल फैलाये हमें गोद लेनेको तैयार है । हम नहीं, वे ही हमारे लिये सतृष्ण नयनोंसे बाट देख रही हैं । बस, उनकी गोदमें चढ़ जाइये ! फिर जीवन सार्थक है ही ।

(९)

निःस्वार्थ प्रेम और सच्चरित्रताकी महिमा

........पत्र तो मैं नहीं दे पाता; परन्तु आपकी और आपके घरभरकी मधुर स्मृति कई बार होती है । संसारका मिलना बिछुड़नेके लिये ही हुआ करता है । जहाँ राग होता है, वहाँ बिछोहमें दुःख और स्मृतिमें सुख-सा प्रतीत होता है । जहाँ द्वेष होता है, वहाँ बिछोहमें सुख और स्मृतिमें दुःख होता है । राग-द्वेषसे परे निःस्वार्थ प्रेमकी एक स्थिति होती है, वहाँ माधुर्य-ही-माधुर्य है । स्वार्थ ही विष और त्याग ही अमृत है । जिस प्रेममें जितना स्वार्थ-त्याग होता है, उतना ही उसका स्वरूप उज्ज्वल होता है । प्रेमका वास्तविक स्वरूप तो त्यागपूर्ण है, उसमें तो केवल प्रेमास्पदका सुख-ही-सुख है । अपने सुखकी तो स्मृति ही नहीं है । अस्तु,

धन कमानेमें उन्नति हो यह तो व्यावहारिक दृष्टिसे वाञ्छनीय

है ही। परन्तु जीवनका उद्देश्य यही नहीं है। जीवनका असली उद्देश्य महान् चरित्रबलको प्राप्त करना है, जिससे भगवत्प्राप्तिका मार्ग सुगम होता है। धन, यश, पद, गौरव, मान, सन्तान—सब कुछ हो; परन्तु यदि मनुष्यमें सच्चरित्रता नहीं है, तो वह वस्तुतः मनुष्यत्वहीन है। सच्चरित्रता ही मनुष्यत्व है।

धन कमानेकी इच्छा ऐसी प्रबल और मोहमयी न होनी चाहिये जिससे न्याय और सत्यका पथ छोड़ना पड़े, दूसरोंका न्याय्य स्वत्व छीना जाय और गरीबोंकी रोटीपर हाथ जाय। जहाँ विलासिता अधिक होती है, खर्च बेशुमार होता है, भोगासक्ति बढ़ी होती है, झूठी प्रेस्टिज (Presige) का भार चढ़ा रहता है, वहाँ धनकी आवश्यकता बहुत बढ़ जाती है और वैसी हालतमें न्यायान्यायका विचार नहीं रहता। गीतामें आसुरी सम्पत्तिके वर्णनमें भगवान्ने कहा है—'कामोपभोगपरायण पुरुष अन्यायसे अर्थोपार्जन करता है।' बुद्धिमान् पुरुषको इतनी बातोंपर ध्यान रखना चाहिये—**विलासिता न बढ़े, फिजूलखर्ची न हो, जीवन यथासाध्य सादा हो, इज्जतका ढकोसला न रक्खा जाय, भोगियोंकी नकल न की जाय और परधनको विषके समान समझा जाय**। इन बातोंको ध्यानमें रखकर सत्यकी रक्षा करते हुए ही धनोपार्जनकी चेष्टा करनी चाहिये। और यदि धन प्राप्त हो तो उसे भगवान्की चीज मानकर अपने निर्वाहमात्रका उसमें अधिकार समझकर शेष धनसे भगवान्की सेवा करनी चाहिये। कुटुम्बसेवा, गरीब, दुखी और विधवाओंकी सेवा आदिके रूपमें यह भगवत्सेवा की जा सकती है। सेवा करके अभिमान नहीं करना चाहिये। भगवान्की वस्तुसे भगवत्सेवा हो; हम तो

केवल निमित्तमात्र हैं, उन्हींकी चीज है, उन्हींके काममें लगती है, उन्हींके आज्ञानुसार लगती है । इसमें हमारे लिये अहङ्कारकी कौन-सी बात है ? प्रभुके काममें न लगाकर स्वयं भोगते तो बेईमानी थी, पाप था । इन सब बातोंका खयाल रखना चाहिये । हो सके तो नित्य कुछ सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय और भगवद्भजन भी अवश्य करना चाहिये । इसकी आवश्यकता पीछे अवश्य मालूम होगी और उस समय पहलेका अभ्यास न होनेसे बड़ी कठिनाई होगी ।

(१०)

बुद्धि और श्रद्धा

तुमने लिखा कि मैं ईश्वरको न तो भूला हूँ और न भूलनेकी आशङ्का है; रास्ता चाहे दूसरा हो । सो भाई ! बहुत अच्छी बात है, रास्तेकी तो कोई बात नहीं; सभी रास्ते अन्तमें जाकर उस एक ही लक्ष्यमें समा जाते हैं । ईश्वरको नहीं भूलना और किसी भी मार्गपर उसे उपलब्ध करनेके लिये मनुष्यको दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ते रहना चाहिये । जगत्के शास्त्रसम्मत सभी धर्मोंमें एक ही सत्य समाया हुआ है । बाह्य रूपोंमें अन्तर होनेपर भी मूलतः और परिणामतः सबका समन्वय है । अवश्य ही तुम्हें और भी विशेष चेष्टाके साथ लगना चाहिये । परमात्माके साधनमें आलस्य करना, समयकी प्रतीक्षा करना और अधूरी स्थितिको ही पूर्ण मान लेना यथार्थ स्थितिकी प्राप्तिमें बहुत बाधक हुआ करता है । मनुष्य-जीवन

नश्वर और क्षणभङ्गुर है, अतएव विशेष प्रयत्न करना आवश्यक है।

× × × ×

तुम्हारा यह लिखना बहुत ठीक है कि 'मनुष्यको अपनी बुद्धिसे काम लेना चाहिये, जहाँ अपनी बुद्धि काम न दे, वहाँ बड़ोंसे या जिनपर अपनी श्रद्धा हो—पूछकर उनकी अनुमतिसे काम करना चाहिये।' तथा तुम्हारा यह लिखना भी बहुत उचित है कि 'यद्यपि अच्छे पुरुष जान-बूझकर अनुचित नहीं कहते; पर भूल तो सबसे ही होती है।' ये दोनों ही बातें ठीक हैं। तथापि बुद्धि और श्रद्धा दोनोंकी ही आवश्यकता है और प्रायः जगत्के सभी क्षेत्रोंमें इन दोनोंसे ही लाभ उठाया जाता है। बुद्धिवाद भी इतना बढ़ जाना बहुत हानिकर होता है, जहाँ अभिमानवश अपनी बुद्धिके सामने सबकी बुद्धिका तिरस्कार किया जाने लगे। और श्रद्धा भी इस रूपमें नहीं परिणत हो जानी चाहिये, जिससे ईश्वर, सत्य और सदाचारके विरुद्ध मतको किसीके कहनेमात्रसे स्वीकार कर लिया जाय। मर्यादित रूपसे बुद्धि हो और यह भी माना जाय कि ईश्वरकी सृष्टिमें ईश्वरकी सन्तानोंमें सम्भवतः मुझसे भी अधिक बुद्धिमान् पुरुष हो चुके हैं और हो सकते हैं।

बुद्धिवाद घोर अभिमान, उच्छृङ्खलता और नास्तिकतामें परिणत नहीं होना चाहिये। मेरी धारणामें तो बुद्धिवादकी अपेक्षा श्रद्धा बहुत ही ऊँची और उपादेय वस्तु है, परन्तु उसकी कसौटी यही है कि ईश्वर या सत्यका श्रद्धालु कभी पापका आचरण नहीं कर सकता—श्रद्धामें यह शर्त जरूर रहनी चाहिये।

बुद्धिवादियोंमें भी यह भाव रहना आवश्यक है कि वे अपने

लिये अपनी बुद्धिसे काम लेनेका जितना अधिकार समझते हैं, 'उतना ही दूसरोंके लिये भी मानें, चाहे वे दूसरे उनके अधीनस्थ निम्नश्रेणीके लोग माने जाते हों या कम विद्या प्राप्त हों। यदि मैं किसीपर श्रद्धा करना आवश्यक नहीं समझता तो मुझे ऐसा चाहनेका भी अधिकार नहीं होना चाहिये कि दूसरे कोई मुझपर श्रद्धा करें या मेरी ही बुद्धिको मान दें। जैसे दूसरेसे गलती हो सकती है, वैसे अपनेसे भी तो हो सकती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आँख मूँदकर तो किसीकी बात नहीं माननी चाहिये. तथापि कुछ ऐसी बातें भी जगत्में होती हैं, जो हमारी समझमें नहीं आतीं, पर सत्य होती हैं और जिसपर हमारा भरोसा होता है, उसके विश्वास-पर हमें उनको स्वीकार भी करना पड़ता है और स्वीकार करना भी चाहिये। वर्तमान वैज्ञानिक युगमें तो ऐसी बहुत-सी बातें हैं।

इसी प्रकार ईश्वरीय साधन-क्षेत्रमें भी है—इस बातका यदि मुझपर कुछ भी विश्वास है तो मैं तुम्हें विश्वास दिलाकर कह सकता हूँ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आजकल ढोंग बहुत ज्यादा बढ़ गया है, जिससे यह निर्णय नहीं हो सकता कि श्रद्धा किसपर की जाय। जिसपर श्रद्धा की जाती है, प्रायः वही ठग, स्वार्थी, कामी, क्रोधी या लोभी निकलता है। भेड़की खालमें भेड़िया साबित होता है। इसलिये विश्वास तो खूब ठोक-पीटकर करना चाहिये और यथासाध्य सचेत रहना तथा अपने अंदर भी ईश्वर और ईश्वरकी शक्ति है—इस बातपर भरोसा करके अपनी बुद्धिसे पूरा काम लेना चाहिये। ईश्वरका आश्रय लेकर अपनी बुद्धिसे काम लेनेवाला निरहंकारी पुरुष कभी नहीं ठगा सकता।

भाग्यवान् और अभागे कौन हैं ?

भैया ! तुम्हारा पत्र मिला । यहाँ कुछ भी अपना नहीं है । आज जिसको अपना मानकर छातीसे लगाया जाता है, वही कल हाथसे निकलकर पराया हो जाता है । यहाँ कोई ऐसी वस्तु है ही नहीं जो सदा हमारे साथ रहे । या तो वह चली जाती है, या उसे छोड़कर हम चले जाते हैं । तुम्हारे पास आज धन है और कभी-कभी—मैं देखता हूँ—तुम्हें उस धनका अभिमान भी होता है । लोग तुम्हें 'भाग्यवान्' कहते हैं तो तुम्हें बड़ा सुख मिलता है, परन्तु भैया ! सच पूछो तो धनसे कोई भी 'भाग्यवान्' नहीं होता । संसारके धन, मान, प्रतिष्ठा, अधिकार सभी कुछ हों और हों भी प्रचुर परिमाणमें, परन्तु मन यदि भगवान्के श्रीचरणोंमें न लगा हो तो वस्तुतः वह 'अभागा' ही है । 'ते नर नरकरूप जीवत जग, भवभंजन-पद विमुख अभागी ।' भाग्यवान् तो वस्तुतः भगवच्चरणानुरागी ही है । 'अहह धन्य लछिमन बड़भागी । राम पदारविंदु अनुरागी ॥' तुम्हें जो धनका अभिमान होता है, यह भी तुम्हारी बड़ी गलती है । फिर तुम्हारे पास तो धन है ही कितना ? तुमसे बहुत बड़े-बड़े धनी अब भी दुनियामें बहुत-से हैं । अबसे पहले ऐसे कितने हो गये हैं, जिनकी धनराशिका कोई पार नहीं था । पर आज उनका वह अनन्त ऐश्वर्य कहाँ है ? शिबि, मान्धाता, ययाति, रन्तिदेव आदिके धनसम्पत्तिका पार नहीं था; पर आज उसका कहीं पता नहीं है । न तो धनके होनेका अभिमान करना चाहिये और न

यही अभिमान करना चाहिये कि यह मैंने कमाया है । यह भगवान्‌की चीज है, तुम्हें तो मिली है—भलीभाँति रक्षा करते हुए इसे भगवान्‌की सेवामें लगानेके लिये । तुम इसके व्यवस्थापक हो, स्वामी नहीं । खबरदार, कहीं मालिक न बन बैठना । नहीं तो, चोरीके अपराधमें बड़े घरकी हवा खानी पड़ेगी । तुम्हारा तो बस, यही काम है कि तुम व्यवस्थापूर्वक इसे स्वामीकी सेवामें लगाते रहो । इसीमें धनकी सार्थकता है और असलमें इसीलिये धनी लोग भाग्यवान् हैं कि उन्हें धनके द्वारा भगवत्सेवाका सौभाग्य मिला है । दीन-दुखी, गरीब भाई, पति-पुत्रहीन दुखी बहिनें, अभावग्रस्त गृहस्थ, अनाथ बालक आदि सभी इस धनके द्वारा सेव्य हैं । यह समझकर नहीं कि वे दयाके पात्र हैं, बल्कि यह समझकर कि भगवान् ही उनके रूपमें अपने अधिकारसे उस धनको तुमसे चाहते हैं । तुम निःसंकोच और मुक्तहस्त होकर नम्रता और विनयके साथ उनका सम्मान करते हुए उनकी निःस्वार्थ सेवा करो । उनसे न कुछ बदलेमें चाहो और न उनपर अहसान करो । ऐसा करोगे तो जरूर 'भाग्यवान्' कहलाओगे ।

---

(१२)

भगवद्दर्शनसम्बन्धी विचार

सादर हरिस्मरण । आपका ६ अगस्तका कृपापत्र यथासमय मिल गया था, कार्यकी अधिकताके कारण उत्तरमें विलम्ब हुआ, कृपया क्षमा कीजियेगा । अपने पत्रमें आपने मुझे 'गुरुवर' कहकर

सम्बोधन किया है और मुझे किसी 'प्रवृत्तिप्रधान महर्षिका अवतार' माना है; सो मैं न तो गुरुपदके योग्य हूँ और न किसी महर्षिका अवतार ही हूँ। यदि आपकी ऐसी मान्यता है तो मेरी अल्प बुद्धिमें उसमें श्रद्धाकी अपेक्षा भ्रमकी ही प्रधानता है, क्योंकि वास्तवमें इससे मेरा गौरव तो नहीं बढ़ता, उलटा गुरुपद और महर्षियोंकी ही योग्यता हल्की पड़ जाती है। यदि मेरे-जैसे अल्पज्ञ जीव ही गुरु या महर्षि माने जा सकते हैं तो पता नहीं शिष्य और साधकोंमें भी साधारण संसारी पुरुषोंकी अपेक्षा कोई विशेषता होगी या नहीं।

आपने अपनी अबतककी साधना और अनुभवोंका उल्लेख करते हुए अपना यह मत प्रकट किया है कि 'आपको जो दर्शन हुए हैं वे दूसरे प्रकारके अर्थात् भावनाजन्य नहीं थे, बल्कि स्वयं श्रीहरिने ही आपके भक्तिभावको बढ़ानेके लिये कृपालु होकर दर्शन दिये हैं। ऐसा हो तो बड़ी प्रसन्नताकी बात है। फिर तो आपमें स्वभावतः ही दैवी सम्पत्ति आ जानी चाहिये थी। भला, भगवान् स्वयं जीवका उद्धार करना चाहें और उसमें विलम्ब हो—यह कैसे सम्भव है? अबोध बालक ध्रुवको जब प्रभुने दर्शन दिये तो इच्छा होनेपर भी अपनी अल्पज्ञताके कारण वे उनकी स्तुति न कर सके। प्रभु उनका भाव समझ गये। उन्होंने ध्रुवके कपोलसे अपने वेदमय शङ्खका स्पर्श कराया और तत्काल ही ध्रुव पूर्ण बोधवान् होकर भगवान्की स्तुति करने लगे। अतः यदि भगवान् आपको अपनी दिव्य भक्ति देना चाहते तो फिर उसमें देरी होनेका कोई कारण नहीं था।

तो फिर क्या माना जाय? आपकी कोई भावना तो थी नहीं,

इसलिये ध्यानजनित दर्शन तो ये हो नहीं सकते। मेरी समझमें ये साक्षात् दर्शन भी नहीं थे; क्योंकि साक्षात् दर्शन होनेपर आपको किसी प्रकारके ऐसे अभावका अनुभव नहीं होना चाहिये था, आपको पूर्ण कृतकृत्यता हो जानी चाहिये थी। बात यह है कि भगवान्‌को साकाररूपसे भजा जाय अथवा निराकाररूपसे—इसमें कोई खास अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों ही एक ही भगवान्‌के स्वरूप हैं और दोनोंहीका समान महत्त्व है। जो लोग एक रूपसे उनका भजन आरम्भ करके फिर किसीके कहने-सुननेसे उसे छोड़कर दूसरे रूपसे उनका भजन करने लगते हैं, उनके विषयमें यह मानना अयुक्त न होगा कि उनकी भगवन्निष्ठा दृढ़ नहीं है और वे विशुद्ध रूप-से केवल भगवान्‌को ही नहीं, बल्कि भगवान्‌से किसी दूसरी वस्तुको चाहते हैं। आप पहले भगवान्‌का साकाररूपसे भजन करते थे; फिर एक महात्माके कहनेसे निराकाररूपसे करने लगे। भला, इसमें किसी भगवद्भिन्न वासनाके सिवा और क्या कारण कहा जा सकता है? (फिर चाहे वह वासना मुक्ति, आत्मकल्याण या ब्रह्मानन्दकी ही क्यों न हो।) जब इस प्रकार आपकी सगुण निष्ठा शिथिल सिद्ध हो जाती है तो इसमें भी कोई कारण नहीं है कि उसके बाद आपकी जो निर्गुण निष्ठा हुई, वह पुष्ट ही थी। वह पुष्ट नहीं थी, इसीसे एक रूपको देखकर बदल गयी। अवश्य ही भगवान्‌का दिव्य साकार रूप अमलात्मा परमहंस मुनियोंके चित्तको भी आकर्षण कर लेता है। पर वह तो बात ही दूसरी है।

अतः मेरे विचारसे तो सम्भवतः यह उपदेवताओंका विघ्न ही था। भगवत्कृपाके आश्रयसे युक्त विशेष साधना और चित्तशुद्धिके

बिना भगवान्‌का दर्शन होना बहुत ही कठिन है। भगवद्दर्शन तो साधन-सोपानकी सीमा है। यह कैसे हो सकता है कि हम सीढ़ियोंपर पैर भी न रक्खें और ऊपर चढ़ जायँ। इसलिये जबतक काम-क्रोधादि विकार बने हुए हैं—जबतक भगवत्कृपाका पूर्णाश्रय नहीं है, तबतक यह नहीं मानना चाहिये कि हमें यथार्थ भगवद्दर्शन हो गया। यह दूसरी बात है कि किसी पुरुषके जन्मान्तरके कोई ऐसे भी पुण्य-संस्कार हों कि उसे साधनकी शैशवावस्थाहीमें कुछ दिव्य अनुभव और चमत्कार दिखायी देने लगें, परन्तु साधकके लिये तो वे सफलताकी अपेक्षा बाधक ही अधिक होते हैं, क्योंकि वह उतनेसे ही अपनेको कृतकृत्य मान बैठता है।

अब संक्षेपमें आपके दूसरे प्रश्नोंके उत्तरमें भी कुछ लिखनेका प्रयत्न करता हूँ—

गीतासम्बन्धी विचार

१—यहाँ 'जानने' का अर्थ अपरोक्षरूपसे जानना अथवा अनुभव है। केवल 'शब्दज्ञान' का नाम 'ज्ञान' नहीं है। लंदन, पैरिस और बर्लिन आदि शहरोंको नक्शेमें देख लेनेसे उनकी स्थितिका ज्ञान तो हो जाता है, भूगोलमें पढ़नेसे उनकी जन-संख्या आदि समझ लेते हैं, पर क्या इसीसे कोई कह सकता है कि मुझे उन नगरोंका ठीक-ठीक ज्ञान हो गया। उनका ठीक ज्ञान तो वहाँ रहनेवालोंको ही होता है। इसी प्रकार जिनकी बुद्धिकी वृत्ति प्रकृतिके तीनों गुणोंसे ऊपर उठ गयी है, उन्हींको पुरुषका वास्तव ज्ञान हो सकता है और वही ठीक-ठीक प्रकृतिके त्रिगुणमय रूपको समझ सकता है। जो स्वयं तीनों गुणोंसे बँधा हुआ है वह त्रिगुणा-

तीत पुरुषको तो क्या, गुणोंके रूपको भी ठीक नहीं जान सकता। इसलिये शब्दोंको नहीं, शब्द जिनका प्रतिपादन करते हैं उन पुरुष और प्रकृतिरूप अर्थोंको जाननेसे ही पुरुष ज्ञानी कहा जा सकता है।

२—आपने भगवद्गीता अध्याय ६ के श्लोक ५ और ६ के अर्थको उद्धृत करके पूछा है कि प्रकृति तो जड है, अतः वह तो किसीके अनुकूल या प्रतिकूल क्या होगी। इसलिये यहाँ प्रकृतिका भावार्थ 'भगवदिच्छा' या 'प्रारब्ध' समझना चाहिये। तो प्रारब्ध या भगवदिच्छा बलवान् है या आत्मस्वतन्त्रता ?

आपने जडमें अनुकूलता-प्रतिकूलताकी अयोग्यता बतलायी, परन्तु मेरे विचारसे तो अनुकूलता-प्रतिकूलता जडके सङ्गसे ही रहती है, चेतन तो असङ्ग और साक्षीमात्र होता है। परन्तु इस विवेचनको अभी छोड़ता हूँ, क्योंकि यह विषय बहुत गम्भीर और विवेकसाध्य है। आपने जो पूछा है कि प्रारब्ध या भगवदिच्छा बलवान् है या आत्मस्वतन्त्रता, सो कर्ममीमांसाके अनुसार प्रारब्ध तो क्रियमाणका ही परिणाम है। हम जो कर्म करते हैं उसीका प्रारब्ध बनता है; इस समय जो प्रारब्ध बना हुआ है वह भी पहले किसी किये हुए कर्मका ही परिणाम है। यदि पुरुषको सर्वथा प्रारब्धके ही पंजेमें मान लिया जाय तो भजन-साधनका कोई मूल्य ही नहीं रहता। वास्तवमें मानव-जीवन विभिन्न कर्मोंके संघर्षका स्थान है। यदि हमारा वर्तमान पुरुषार्थ प्रबल होता है तो वह फलदानोन्मुख प्रारब्धको दबा देता है और यदि पुरुषार्थ शिथिल होता है तो प्रारब्ध उसे दबा देता है। अतः सिद्धान्ततः प्रारब्ध और पुरुषार्थ-

मेंसे किसी एकको ही प्रबल नहीं कह सकते, इनकी सबलता-निर्बलता तो प्रयत्नके अनुसार समय-समयपर बदलती रहती है। रही परमस्वतन्त्र भगवदिच्छा—सो उसकी तो बात दूसरी है। असलमें तो भगवान्‌की इच्छाका स्वरूप भगवान् ही बता सकते हैं। हम तो यह भी ठीक नहीं बता सकते कि भगवान्‌में इच्छा है भी या नहीं—परन्तु यदि इच्छा है तो यह कहनेमें संकोच नहीं करना चाहिये कि वह भी भक्तिके परतन्त्र है। इसके सिवा अन्य पुरुषों-के प्रति भी भगवान्‌की इच्छा उनके कर्मोंके अनुरूप ही होती है। नहीं तो उसमें विषमता होनेका कोई और कारण नहीं बताया जा सकता। अतः यही मानना उचित है कि अपना प्रबल प्रयत्न हो तो अवश्य भगवदिच्छामें भी परिवर्तन हो सकता है, किन्तु वह प्रयत्न सर्वथा प्रेम और सत्यसे अनुप्राणित होकर इतना प्रबल होना चाहिये कि उससे भगवान्‌का भी आसन हिल जाय।

आध्यात्मिक विचार

१—मुक्त होनेपर जीव परमात्मामें इस प्रकार लीन नहीं होता, जैसे घड़ेका पानी समुद्रके जलमें; क्योंकि जलकी तरह जीव और परमात्मा सावयव पदार्थ नहीं हैं। वे तो वास्तवमें एक ही हैं। जैसे एक ही महाकाश घटसे सीमित होनेपर घटा-काश कहा जाता है और स्वयं व्यापक है, उसी प्रकार लिङ्गदेहरूप उपाधिके कारण परमात्मा ही जीवात्मा कहा जाता है। ज्ञानसे लिङ्गदेहके कारण अज्ञानका नाश हो जाता है; अतः जैसे घटके नाशसे घटाकाश महाकाशरूप ही रह जाता है, महाकाशमें लीन नहीं होता, उसी प्रकार अज्ञानके नाशसे

लिङ्गदेहका बाध हो जानेसे जीवात्मा परमात्मा ही रह जाता है, वह उसमें लीन नहीं होता।

अब विचार यह है कि 'परमात्माके अवतार लेनेपर परमात्मामें लीन हुए मुक्त जीवको भी संसार-बन्धन होता है या नहीं ?' ऐसी स्थितिमें यदि अवतार लेनेपर परमात्माको संसार-बन्धन माना जाय तब तो किसी प्रकार ऐसी शङ्का हो भी सकती है—वह भी इस प्रकार नहीं होगी जैसी आपने की है, क्योंकि ऊपर यह बताया जा चुका है कि जीवात्मा परमात्मामें लीन नहीं होता। किन्तु जब परमात्माको ही बन्धन नहीं होता तो मुक्तात्माको क्यों होगा ? परमात्मा जो 'शरीर' धारण करते हैं वह उनका स्वेच्छामय दिव्य निर्गुण देह होता है—प्रकृतिका कार्य नहीं होता। उसमें और स्वयं चिद्रूप श्रीभगवान्‌में कोई तात्त्विक भेद नहीं होता। यही सामान्य जीव और परमात्माके देहधारणमें अन्तर है। इस प्रकार जब भगवद्विग्रह स्वयं भगवत्तत्त्व ही है तो वह उनका किस प्रकार बन्धन कर सकता है ? अतः अवतारशरीरके विषयमें आपकी यह शङ्का बन ही नहीं सकती।

२—'जड' शब्दका अर्थ है दृश्य। जो कुछ भी बाह्य और आन्तर इन्द्रियोंका विषय होता है वह सब दृश्य ही है और इसीसे जड भी है। चेतनसे जडकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसीसे चेतनको कारण माननेवाले अद्वैत वेदान्ती दृश्यकी सत्ता स्वीकार नहीं करते। अतः इस शङ्कासे उनके सिद्धान्तमें कोई बाधा नहीं आती। यदि दृश्यकी उत्पत्तिकी कोई व्यवस्था ही लगानी हो तो जैसे निद्रा-दोषसे स्वप्नद्रष्टा ही स्वप्नरूप होकर नदी, पर्वत, पशु,

पक्षी और मनुष्यादिके रूपमें दिखायी देने लगता है, वैसे ही अज्ञान-वश शुद्ध चेतन ही जड-प्रपञ्चके रूपमें भासने लगता है—यही समझना चाहिये।

रामचरितमानस-सम्बन्धी विचार

१–श्रीरामचरितमानसकी 'एकरूप तुम्ह भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम तें नहिं मारेउँ सोऊ॥' 'मरइ न रिपु श्रम भयउ बिसेषा। राम बिभीषन तन तब देखा॥' आदि-आदि चौपाइयाँ उद्धृत करके आपने जो शङ्काएँ की हैं, उनके समाधानमें यह निवेदन है कि भले ही इनमें किसीके द्वारा भगवान्‌की सर्वज्ञता, किसीके द्वारा उनकी सर्वशक्तिमत्ता और किसीके द्वारा उनकी निर्भ्रमताके विषयमें यह सन्देह किया गया है। यह माननेमें तो आपको भी कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिये कि लीलाके लिये भगवान् ऐसा कर सकते हैं; शङ्काएँ तो मुख्यतया इस दृष्टिको लेकर हैं कि उन्होंने अपना यह अनैश्वर्य उन लोगोंके सामने प्रकट किया जो उन्हें साक्षात् परम ईश्वर ही मानते थे। इसके विषयमें मुझे यही निवेदन करना है कि भगवच्चरित्रकी यही विशेषता होती है कि उसमें पद-पदपर ऐश्वर्य और अनैश्वर्य प्रकट होते रहते हैं। कोरे ऐश्वर्यको लेकर तो कोई लीला हो ही नहीं सकती, इसीसे लीलापरिकरोंमें भी कभी ऐश्वर्यबोध जाग्रत् रहता है, तो कभी वह भगवान्‌की स्वजन-मोहिनी मायासे तिरोहित भी हो जाता है। यों तो भगवान् श्रीराम-भद्र या श्रीश्यामसुन्दरके लीलापरिकरोंमें ऐसा कोई भी नहीं है जो उन्हें साक्षात् भगवान् न जानता हो। रावण और कंसतकको भी उनके ईश्वर होनेका निश्चय था। फिर भी दोनोंहीकी लीलाओंमें

ऐसा कोई परिकर नहीं था जिसे कभी-न-कभी उस ऐश्वर्यकी विस्मृति न हुई हो। यही नहीं, भक्तिशास्त्रमें ऐश्वर्यकी विस्मृति तो उत्कृष्ट प्रेमका लक्षण मानी गयी है। इसीसे ऐश्वर्योपासकोंकी अपेक्षा माधुर्योपासकोंको उत्कृष्ट माना गया है। अतः यदि अपने ही भक्तोंके सामने प्रभु अल्पज्ञ और असमर्थोंके समान लीला करते हैं और उसमें उन्हें कोई शङ्का या आश्चर्य भी नहीं होता तो इससे तो उनकी लीलाचातुरी ही अभिव्यक्त होती है। इसमें शङ्काका कोई कारण नहीं है।

२—रावणकी नाभिमें जो अमृतका कुण्ड था वह क्या था, इसका मैं कोई निश्चित उत्तर नहीं दे सकता। कहा जाता है कि रावण जो सीताजीका स्मरण करता रहता था वही अमृतकुण्ड था। परन्तु वह कुछ भी हो, भगवान्‌के लिये उसका शोषण करना और उसके सूखनेपर रावणका मारा जाना कोई शङ्काकी बात नहीं है। जबतक वह नहीं सूखा, तबतक तो रावण सिर कटनेपर भी नहीं मरा, अतः यह नहीं कह सकते कि उस अमृतका कोई मूल्य या उपयोग नहीं था; और साक्षात् श्रीभगवान्‌के बाणोंसे उसका सूखना भी कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; अतः यहाँ कोई भी शङ्का नहीं हो सकती।

आपकी शङ्काओंका उत्तर अपनी बुद्धिके अनुसार जैसा समझमें आया, लिख दिया है; यदि इससे आपका कोई समाधान हो सके तो बड़े आनन्दकी बात है।

गुरु, साधु, महापुरुष

आपका कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंके उत्तर अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार क्रमशः लिख रहा हूँ। उत्तरोंका आधार प्रधानतया शास्त्र और संतोंके वचन ही हैं। इससे आपका कुछ समाधान हो सका, तो प्रसन्नताकी बात है। पत्रका उत्तर बहुत दिनों बाद लिखा जा रहा है, इसके लिये क्षमा करें।

१. जो साधु, गुरु या आचार्य किसी भी हेतुको बतलाकर परस्त्रियोंके साथ दूषित सम्बन्ध रखते हैं, मैं तो उनको साधु, गुरु या आचार्य कहानेलायक नहीं समझता। शिष्य अपनी श्रद्धासे गुरुका सब कुछ क्षम्य मान सकता है, यह किसी अंशमें किसी सीमातक उसके लिये ठीक कहा जानेपर भी न्यायकर्ता ईश्वरके यहाँ उसका सब कुछ क्षम्य नहीं हो सकता। वरं उसपर तो अधिक जिम्मेवारी है। पुलिसकी चपरास लगाकर चोरी करनेवाला पुलिसका कर्मचारी अधिक दण्डका पात्र होता है; इसी प्रकार दूसरे लोगोंको परमार्थके मार्गपर ले जानेके लिये जिन लोगोंने गुरु या आचार्यका पद स्वीकार किया है, या जो शुद्ध सात्त्विक मार्गपर चलनेवाले सर्वत्यागी संतका बाना धारण करके साधु बने हैं, वे तो असाधुताका आचरण करनेपर विशेष दण्डके पात्र होते हैं। मन्दिर, मठ, आश्रम कोई भी स्थान हो तथा उनमें रहनेवाले पुरुष चाहे कैसे भी प्रसिद्ध साधु, महात्मा या गुरु अथवा आचार्य कहलाते हों, यदि वे व्यभिचारी हैं, परस्वका हरण करनेवाले हैं तो उनका सङ्ग तो निःसन्देह छोड़

ही देना चाहिये बल्कि ऐसा प्रयत्न करना भी धर्मसंगत ही है कि जिसमें उनके जालमें भोले-भाले नर-नारी न फँसें। वस्तुतः वे साधु-महात्मा या गुरु-आचार्य नहीं हैं, वे तो संतके वेषमें कालनेमि हैं जो दण्डके ही पात्र हैं। वास्तवमें ऐसे ही लोगोंके कारण धर्मसे लोगोंकी श्रद्धा उठी जा रही है।

२. जब सभी क्षेत्रोंमें अनुभवी और जानकार पुरुषोंकी सहायता आवश्यक है तब पारमार्थिक क्षेत्रमें अनुभवी गुरुकी आवश्यकता क्यों न होगी? गुरुकी अत्यन्त आवश्यकता है; परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि चाहे जिससे और चाहे जो मन्त्र ले लिया जाय। अनुभवी, परमार्थतत्त्वके ज्ञाता, त्यागी, शिष्यके कल्याणकारी गुरुकी आवश्यकता है। ऐसे गुरु न मिलें तो खोज करनी चाहिये। गुरुप्राप्तिकी चाह प्रबल होगी और इसके लिये भगवान्‌से प्रार्थना की जायगी तो भगवान् स्वयं ऐसे गुरुसे आपकी भेंट करा देंगे या वे स्वयं ही गुरुरूपमें आपके सामने प्रकट होकर आपके जीवनको सफल कर देंगे।

३. अवश्य ही भगवान्‌को गुरु बनाया जा सकता है। भगवान् शंकर 'सद्‌गुरु' और भगवान् श्रीकृष्ण 'जगद्‌गुरु'के नामसे प्रसिद्ध ही हैं। वरं भगवान्‌को गुरु वरण करना और भी उत्तम है। सच्ची निष्ठा होगी तो भगवान् गुरुरूपसे अन्तरात्मासे ऐसी शुभ और यथार्थ प्रेरणा करते रहेंगे तथा इस प्रकार कुशलताके साथ आपको साधनक्षेत्रमें आगे बढ़ाते रहेंगे कि उसकी तुलना कहीं भी नहीं मिल सकेगी।

४. मेरी समझसे स्त्रियोंके लिये किसी मनुष्यविशेषको गुरु

करनेकी आवश्यकता नहीं है। वे अपने पतिको या सबके परमपति श्रीभगवान्‌को ही गुरुरूपमें मानकर उनके आदेशानुसार चलें, इसीमें कल्याण है। परपुरुषके चरणस्पर्श और उनका ध्यान करना उचित नहीं है, और इसका प्रायः उत्तम फल भी नहीं होता।

५. गुरुमें ईश्वरसे बढ़कर श्रद्धा-भक्ति होनी चाहिये यह सत्य है, ऐसा ही होना चाहिये परन्तु वे गुरु भी वैसे त्यागी, अनुभवी महात्मा ही होने चाहिये जिनका सङ्ग और उपदेश शिष्यके परम कल्याणमें प्रधान कारण हो। केवल मन्त्र देकर पैसे लेनेवाले, स्त्रियोंकी ओर बुरी नजरसे ताकनेवाले, विलासिता तथा भोगसुखोंमें रचे-पचे हुए नामके गुरुओंके लिये यह बात नहीं।

गुरु या आचार्यके लक्षण बतलाते हुए शास्त्रोंमें कहा गया है——

आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः।
मन्त्रज्ञो मन्त्रभक्तश्च सदा मन्त्राश्रयः शुचिः॥
सत्सम्प्रदायसंयुक्तो ब्रह्मविद्याविशारदः।
अनन्यसाधनश्चैव तथानन्यप्रयोजनः॥
साधको वीतरागश्च क्रोधलोभविवर्जितः।
सद्वृत्तः शासिता चैव स्थितधीः परमात्मवित्॥
एवमादिगुणोपेत आचार्यः समुदाहृतः।
आचाराञ्छासयेद् यस्तु स आचार्य इतीरितः॥

'आचार्य वेदके ज्ञाता, भगवान्‌के भक्त, मत्सररहित, मन्त्रका मर्म जाननेवाले, मन्त्रके भक्त, मन्त्राश्रयी, शरीर और मनसे पवित्र, उत्तम सम्प्रदाययुक्त, ब्रह्मविद्यामें पारङ्गत, अनन्यसाधनायुक्त, भगवान्‌के अतिरिक्त दूसरे कोई भी प्रयोजनको न रखनेवाले, साधनसम्पन्न, वैराग्यवान्, क्रोध-लोभसे सर्वथा रहित, सद्वृत्तियोंमें

स्थित सदुपदेशक, स्थिरबुद्धि और परमात्माको (तत्त्वतः) जाननेवाले होते हैं। जिनमें ऐसे गुण हों वही आचार्य कहलाते हैं। वस्तुतः जो आचारका उपदेश करते हैं वे आचार्य कहे जाते हैं।'

६. यद्यपि बाहरी खान-पान, वेष-भूषा, बातचीतसे सच्चे साधुकी पहचान नहीं होती तथापि सर्वसाधारणके लिये हितकर वे ही महात्मा हो सकते हैं जिनके बाहरी आचरण भी आदर्श अनुकरणके योग्य और परम हितकर हों।

७. बड़े रईसोंकी तरह बहुत आरामसे रहनेवाले, शरीरको खूब धो-पोंछकर तथा सजाकर रखनेवाले, सर्दी-गर्मीको न सह सकनेवाले, मान-बड़ाईको स्वीकार करनेवाले तथा खान-पानकी वस्तुओंमें आसक्त-से दीखनेवाले पुरुष भगवत्प्राप्त महात्मा हो ही नहीं सकते, यह तो कदापि नहीं मानना चाहिये। परन्तु शोभा और आदर्श तो त्यागमें ही है। तथा उपर्युक्त बातें जिनमें आसक्ति-सहित होती हैं, वे वास्तवमें भगवत्प्राप्त पुरुष होते भी नहीं।

८. यह सत्य है कि बाहरी त्याग दिखानेवाले ढोंगी भी हो सकते हैं, परन्तु ऐसा कोई भी व्यभिचारादि-जैसा बुरा आचरण तो नहीं ही होना चाहिये जो शास्त्रसे निषिद्ध हो।

९. महापुरुषकी पहचान कोई क्या करे। हमारी बुद्धिका मापदण्ड ही ऐसा नहीं है जो उन लोगोंकी स्थितिको तौल सके। परन्तु यह निश्चय समझना चाहिये कि सच्चे महापुरुष किसी भी हेतुसे जान-अनजानमें जिसको मिल गये उसका जीवन अवश्य सफल हो गया। भगवान्‌के साधनराज्यमें दो ही वस्तु ऐसी हैं जो बिना भावके केवल अपने स्वाभाविक गुणसे ही मनुष्यका परम

कल्याण कर देती हैं—१ महापुरुषका सङ्ग और २ श्रीभगवन्नामका उच्चारण। जैसे अग्निकी दाहिका शक्ति अनजानमें स्पर्श हो जानेपर भी अपना काम करती है, इसी प्रकार महापुरुषका अज्ञात सङ्ग भी तमाम पापोंको जलाकर परम कल्याणकी प्राप्ति करा देता है।

१०. भक्तके लक्षण गीताके १२ वें अध्यायके श्लोक १३ से २० तक देखने चाहिये। भक्त साधुओंके कुछ लक्षण निम्नलिखित श्लोकोंसे जान सकते हैं—

यथालब्धोऽपि सन्तुष्टः समचित्तो जितेन्द्रियः।
हरिपादाश्रयो लोके विज्ञः साधुरनिन्दकः॥
निर्वैरः सदयः शान्तो दम्भाहङ्कारवर्जितः।
निरपेक्षो मुनिर्वीतरागः साधुरिहोच्यते॥
लोभमोहमदक्रोधकामादिरहितः सुखी।
कृष्णाङ्घ्रिशरणः साधुः सहिष्णुः समदर्शनः॥
कृष्णार्पितप्राणशरीरबुद्धिः
शान्तेन्द्रियस्त्रीसुतसम्पदादिः।
असक्तचित्तः श्रवणादिभक्ति-
र्यस्येह साधुः सततं हरेर्यः॥
कृष्णाश्रयः कृष्णकथानुरक्तः
कृष्णेष्टमन्त्रस्मृतिपूजनीयः।
कृष्णानिशंध्यानमनास्त्वनन्यो
यो वै स साधुर्मुनिवर्य कार्ष्णः॥

भगवान्के विधानसे जो कुछ भी मिल जाय, जो उसीमें सन्तुष्ट है, सब अवस्थाओंमें समान चित्तवाला है, इन्द्रियोंको वशमें किये है, श्रीहरिके चरणकमलोंका आश्रयी है, ज्ञानवान् है, संसारमें

किसीकी निन्दा नहीं करता वह साधु है। जो किसीसे वैर नहीं रखता, दयावान् है, शान्त है, दम्भ और अहंकारसे सर्वथा रहित है, किसी भी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखता, भगवान्‌के मननमें लगा रहता है, विषयोंका चिन्तन नहीं करता, परम वैराग्यवान् है वही साधु कहा जाता है। जो लोभ, मोह, मद, क्रोध और कामसे रहित है, सदा आनन्दमें डूबा रहता है, भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंकी शरण है, सहनशील तथा सबमें समदर्शी है, वही साधु है। जो अपने प्राण, शरीर और बुद्धिको श्रीकृष्णके अर्पण कर चुका है, जिसकी स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति और इन्द्रियसुखविषयक वासना शान्त हो गयी है, जिसका चित्त आसक्तिरहित है, जिसका श्रवण-कीर्तनादिमें प्रेम है और जो निरन्तर श्रीहरिका ही हो रहा है इस लोकमें वही साधु है। जिसके केवल श्रीकृष्णका ही आश्रय है, जो श्रीकृष्ण-प्रेममें ही आसक्त है, 'कृष्ण' इस इष्ट मन्त्रके स्मरणके कारण जो सबका पूजनीय है, श्रीकृष्णके ध्यानमें ही जिसका मन निरन्तर लगा है, जो श्रीकृष्णका ही अनन्य भक्त है, हे मुनिवर्य! वही कृष्णभक्त साधु है।

सत्सङ्ग

११. साधुसंगतिकी महिमासे शास्त्र भरे हैं, और यह युक्तिसंगत भी है कि मनुष्य जिस प्रकारकी संगतिमें रहता है, वह उसी प्रकारका बनता है। सत्सङ्गसे अन्तःकरणकी शुद्धि, मोक्षकी योग्यता तथा सबसे दुर्लभ भगवत्प्रेमतककी प्राप्ति होती है। वे मनुष्य बड़े भाग्यवान् हैं जो कुसंगतिसे बचे हैं और सत्संगतिसे लाभ उठाते हैं। अन्तःकरणकी शुद्धिके दो अङ्ग हैं—१ पाप तथा

पापविचारोंका नाश और २ सद्विचार, सद्गुण तथा सत्कर्मोंकी प्राप्ति। ये दोनों ही कार्य सत्संगतिसे सहज ही होते हैं। महाराज पृथुने कहा है—

तेषामहं पादसरोजरेणु-
मार्या वहेयाधिकिरीटमायुः ।
यं नित्यदा विभ्रत आशु पापं
नश्यत्यमुं सर्वगुणा भजन्ति ॥

'आर्यजन! मैं उन महात्माओंकी चरणकमलरजको जीवनभर सदा अपने मुकुटपर वहन करूँगा जिसके नित्य धारण करनेसे पाप तुरंत ही नष्ट हो जाते हैं और सारे गुण आ जाते हैं।' जबतक अन्तःकरणमें दुष्ट विचार वर्तमान हैं, तभीतक दुःख है, दुष्ट विचारोंका नाश होना ही अन्तःकरणकी शुद्धि है। यह शुद्धि हो जानेपर सद्विचार, सद्गुण और सत्कर्म ही होते हैं, जिनके प्रतापसे दुःखका नाश होता है। फिर सत्सङ्गका प्रभाव प्रत्यक्ष होनेसे उसमें और भी रुचि होती है, तब और भी ऊँची सत्संगति प्राप्त होती है जिससे संसारके समस्त सुखोंसे चित्त हट जाता है और मोक्षकी तीव्र इच्छा जाग उठती है तथा मोक्षप्राप्तिके उपयुक्त साधन करके मनुष्य सारे बन्धनोंको काटकर मोक्षको प्राप्त हो जाता है। कुछ महात्मा ऐसे होते हैं जिन्हें भगवत्प्रेमियोंका सङ्ग प्राप्त हो जाता है और उसके प्रभावसे वे मोक्षका भी तिरस्कार कर बैठते हैं। और केवल भगवान्‌के विशुद्ध और अनन्य प्रेमकी प्राप्ति करके उसीमें डूबे रहते हैं। इस प्रकार सत्संगतिसे भगवान् उसके वशमें हो जाते हैं। इसीलिये भगवान्‌ने ऐसी सत्संगतिकी महिमा गायी है—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥

'समस्त सङ्गोंका (आसक्तियोंका) नाश करनेवाला सत्सङ्ग जिस प्रकार मुझको सर्वथा वशमें करता है, उस प्रकार उद्धव! योग, ज्ञान, धर्म, वेदाध्ययन, तप, त्याग, इष्टापूर्त कर्म, दान, व्रत, यज्ञ, मन्त्र, तीर्थ, नियम और यम कोई भी साधन वशमें नहीं कर सकते।'

इसीलिये भगवत्प्रेमी भक्त ऐसे प्रेमी जनोंके सङ्गके सामने मोक्ष-सुखको भी तुच्छ गिनता है।

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

'मनुष्योंके राज्य-सम्पत्तियोंकी तो बात ही क्या है, भगवत्प्रेमियोंके निमेषमात्रके सङ्गसे स्वर्ग और मोक्षकी भी तुलना नहीं होती।'

जिस सत्संगतिकी इतनी महिमा है, उसका लाभ मनुष्य जितना ही उठा सके, उतना ही थोड़ा है।

आपकी सत्सङ्गमें रुचि है यह आपके लिये बड़े ही सौभाग्यकी बात है।

'भाव'

१२. वस्तुतः प्रेम शब्द तभी सार्थक होता है, जब वह श्रीभगवान्‌में होता है। यह प्रेम सर्व दोषोंका नाश होनेपर ही प्राप्त

होता है। प्रेमके कई स्तर हैं। इनमें 'भाव' एक ऊँचा स्तर है। 'भाव' की सर्वाङ्गपूर्णता होनेपर जो स्थिति होती है वह तो अनिर्वचनीय है। भावका अङ्कुर उत्पन्न होनेपर कैसी स्थिति होती है इसका वर्णन वैष्णवशास्त्रोंमें किया गया है। भक्तिरसामृतसिन्धुमें कहा है—

क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता।
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः॥
आसक्तिस्तद्‌गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले।
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावाङ्कुरे जने॥

भावाङ्कुर उत्पन्न होनेपर ये नौ लक्षण दिखायी देने लगते हैं।

१—*क्षोभहीनता या क्षमा*—क्षोभ या क्रोधका कारण उपस्थित होनेपर भी चित्तका निर्विकार रहना और बुरा करनेवालेका भी हित ही करना।

२—*अव्यर्थकालत्व*—अपने शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिको निरन्तर भगवत्-सम्बन्धी विषयोंमें लगाये रखना, भगवद्भजन बिना एक क्षण भी न खोना।

३—*विरक्ति*—इस लोक और परलोकके भोगोंमें आत्यन्तिक वैराग्य।

४—*मानशून्यता*—अभिमान और अहंकारका सर्वथा त्याग। अपनेको बहुत ही दीन समझना।

५—*आशाबन्ध*—भगवान्‌की प्राप्तिके सम्बन्धमें दृढ़ विश्वास।

६—*समुत्कण्ठा*—भगवान्‌की प्राप्तिके लिये अत्यन्त व्याकुलता।

७—*नामगानमें सदा रुचि*—भगवान्‌के नाम-कीर्तनमें निरन्तर रुचि।

८—*भगवान्‌के गुणोंमें आसक्ति*।

९—*भगवान्‌के लीलाधामोंमें प्रीति ।*

आपने भावकी बात पूछी सो वह तो बतायी नहीं जा सकती। भावके अङ्कुरकी ही उत्पत्तिसे इन लक्षणोंकी अवतारणा हो जाती है। इसीसे आप कुछ अनुमान कर लीजिये। 'भाव' और 'महा-भाव' में क्या स्थिति होगी, हमारा अनुमान वास्तवमें उस स्थितिकी छायातक भी नहीं पहुँच सकता। श्रीगोपियोंकी बात कहने-सुननेके तो हमलोग अधिकारी ही नहीं हैं। वे तो मूर्तिमती महाभावरूपा श्रीराधाजीकी नित्य सहचरी थीं। उनके प्रेमकी दशा तो हमारी चित्तभूमिके लिये सर्वथा अचिन्त्य है।

यह तो हुआ आपके बारहों प्रश्नोंका उत्तर। आपने बहुत विस्तारसे उत्तर चाहा था, परन्तु इतने ही विस्तारमें बहुत समय लग गया है, यद्यपि इसमें केवल इशारा मात्र ही आ सका है; परन्तु इससे अधिक लिखनेके लिये अभी समय ही नहीं है। अब आपकी अन्तिम बातका उत्तर यह है—

घर या बाहर

मेरी समझसे आपको घर छोड़कर कहीं जाना नहीं चाहिये। कहाँ जाइयेगा? आज ऐसा कौन-सा क्षेत्र या स्थान है जहाँ विषया-सक्ति नहीं है? घरमें आपको जो सहूलियत प्राप्त हैं वे बाहर जानेपर और भी नहीं मिलेंगी। मेरा यह दृढ़ निश्चय है कि आपको साधनकी जितनी सुविधा घरमें है उतनी बाहर नहीं मिल सकेगी। वहाँ नाना प्रकारकी ऐसी चिन्ताएँ आपको घेर लेंगी, जिनकी यहाँ कल्पना भी नहीं है, अतएव आप घरमें ही रहकर अधिक-से-अधिक

समय भगवदाराधनमें लगानेकी चेष्टा कीजिये और ऐसा प्रयत्न कीजिये जिसमें सत्सङ्ग, भजन और ध्यानके प्रभावसे और भगवत्कृपाके बलसे आपका चित्त श्रीभगवान्‌में विशेषरूपसे आसक्त हो जाय। आप मनमें निश्चय कीजिये और भगवान्‌की कृपाके बलपर विश्वास कीजिये, फिर ऐसा होना कुछ भी बड़ी बात नहीं है। भगवान्‌की कृपासे असम्भव भी सम्भव हो सकता है। फिर यह तो भगवान्‌की ओर जानेका प्रयत्न है, इस प्रयत्नमें तो भगवत्कृपा सहायता करनेके लिये बाध्य है।
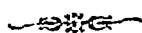
(१४)

धर्म और भगवान्

आपका कृपापत्र मिल गया था। मैं समयपर जवाब न दे सका। माफ कीजियेगा। आप मुसलमान हैं, इसीलिये मेरे मनमें आपके प्रति मुहब्बत कम क्यों होती? मुहब्बतसे, और इन हिंदू-मुसलमान नामोंसे क्या सरोकार? लेकिन अफसोस तो यह है कि आज हम इस हालतपर पहुँच गये हैं कि एक दूसरेपर सन्देह करने लगे हैं और इसीसे ऐसे सवाल भी मनमें पैदा होते हैं। आपने इस्लामका बड़ा ही सुन्दर अर्थ किया है। आपका यह अर्थ यदि भारतीय मुसलमान भाई जानते या मानते, उनके हृदयोंमें काश, यह अर्थ आ जाता तो आज जहाँ एक दूसरेके गलेपर छूरी चलायी जाती है वहाँ एक दूसरेके हाथ परस्पर रक्षा करनेके लिये छत्र-छायाकी तरह ऊपरको उठे होते, और फिर क्या मजाल कि कोई

तीसरा हममें भेद उत्पन्न करके लड़ा सकता । परन्तु आज तो ज़माना ही बदल गया है । हमने ईश्वरके और धर्मके नामपर ही ईश्वर और धर्मकी हत्या करना शुरू कर दिया है । पता नहीं, इसका क्या नतीजा होगा ।

ईश्वर एक हैं, धर्म उनकी प्राप्तिके रास्ते हैं । वे धर्म धर्म नहीं जो ईश्वरप्राप्तिके रास्तेमें रोड़े अटकावें । सच्ची बात तो यह है कि एक ही भगवान्‌को हमलोग भिन्न-भिन्न नामोंसे पूजते हैं । हमारे श्रीकृष्ण ही आपके अल्लाह हैं । मज़हबके नामों और देशकी सीमाओंके भेदसे न तो भगवान् अनेक हो जाते हैं और न अखण्ड आत्माके स्वरूपमें ही अन्तर आ सकता है । यह तो मनुष्यकी हठधर्मी है जो वह अपना अज्ञान ईश्वरपर लादकर ईश्वरको छोटे दायरेमें कैद करना चाहता है । भगवान् सबको सुमति दें । यही प्रार्थना है······।

(१५)

भगवान्‌का महत्त्व

भगवान्‌की ओर चित्तका प्रवाह कम है और सांसारिक विषयों एवं प्रलोभनोंकी ओर अधिक है—यह अवश्य ही चिन्ताकी बात है । श्रीभगवान्‌में जिस दिन पूर्णरूपसे यह भाव हो जायगा कि भगवान्‌को भूलनेसे बढ़कर और कोई महान् हानि नहीं है, उस दिनसे फिर ऐसी बात नहीं होगी । किसी भी अधिक मूल्यवान् और अधिक महत्त्वकी वस्तुके लिये कम मूल्यकी या कम महत्त्वकी वस्तुका त्याग अनायास हो सकता है । भगवान्‌के समान बहुमूल्य और महत्त्वकी

वस्तु और कौन-सी होगी । बुद्धिसे सोचनेपर ऐसा ही प्रतीत भी होता है; परन्तु इस तत्त्वपर पूरी श्रद्धा नहीं होती, इसीसे भगवान्‌को छोड़कर विषयोंकी ओर चित्तवृत्तियोंका प्रवाह होता है । भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये कि वे कृपापूर्वक हमें श्रद्धा और विश्वासका दान करें । श्रीभगवान्‌का महत्त्व यथार्थतः जान लेनेपर अपना सब कुछ देकर भी उन्हें पानेमें उनकी कृपा ही कारण दिखायी देती है । भक्त समझता है और अनुभव करता है कि मैंने जो कुछ दिया है, उससे करोड़गुना भी दिया जाता, तो भी थोड़ा था । अथवा उन्हें पानेके लिये जितना दुःख-कष्ट भोगा है, उससे करोड़गुना भी भोगा जाता तो भी उनके मिलन-सुखके सामने उसकी करोड़वें हिस्सेकी भी कीमत न होती । त्याग या तपकी कीमत देकर कौन भगवान्‌को खरीद सकता है । उस अमूल्य निधिकी तुलना किसी दूसरी वस्तुसे की ही नहीं जा सकती । फिर तुच्छ भोगोंका त्याग तो तुच्छ-सी बात होगी । भला विचार तो कीजिये,—उनके समान सौन्दर्य, माधुर्य, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, श्री, यश और किसमें हैं । उनके समान प्रलोभनकी वस्तु और कौन-सी है ? हमारा अभाग्य है जो हम उस दिव्य सुधा-सागरको छोड़कर विषय-विषकी ज्वालासे पूर्ण माया-मधुर विषयोंके पीछे पागल हो रहे हैं । उन मुनिजनमनमोहन निखिल आनन्द-रसनिर्यास, सौन्दर्य-माधुर्यके परमनिधि परमधाम प्रियतमको छोड़कर क्षणविध्वंसी, अनित्य और असुख भोगोंकी प्राप्तिके लिये मृत्युकालतक तरसते रहते हैं । भगवान् हमारी मति पलटें । कातर प्रार्थना कीजिये । सच्ची कातर प्रार्थनाका उत्तर बहुत शीघ्र मिलता है ।

एक बात और है बड़े महत्त्वकी, हो सके तो कीजिये। जीवन-मरण, बन्धन-मुक्ति, क्या, क्यों और कबकी चिन्ताको छोड़कर दयामयकी अहैतुक दयापर निर्भर हो जाइये। बस, उसका चिन्तन हुआ करे और इस निर्भरतामें कभी त्रुटि न आने पावे। देखिये, आप क्यासे क्या हो जाते हैं और वह भी बहुत ही शीघ्र!

---

(१६)

भक्तके सच्चे हृदयकी पुकार भगवान् अवश्य सुनते हैं

आपने एक पत्रमें लिखा था कि अच्छी स्थितिमें भी भगवान्-पर भरोसा नहीं होता तब साधनकी शिथिलतामें तो हो ही कहाँसे, परन्तु अब ज्यादा निराशा नहीं होती। सो भगवान्पर भरोसा तो अच्छी, बुरी सभी स्थितियोंमें रखना चाहिये। इसके सिवा और सहारा ही क्या है? बलवान् और निर्बल सभीके बल एक भगवान् ही हैं, परन्तु अपनेको वास्तवमें निर्बल मानकर भगवान्के बलपर भरोसा रखनेवालेका बल तो भगवान् हैं ही। इस भगवान्के बलको पाकर वह अति निर्बल भी महान् बलवान् हो सकता है—'मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्' प्रसिद्ध है।

भगवान्को पुकारने भरकी देर है। बीमार बच्चा बाहर बैठी हुई माको पुकारे तो क्या मा उसकी पुकार नहीं सुनती या कातर पुकार सुनकर भी आनेमें कमी देर करती है? अवश्य ही यह बात होनी चाहिये कि मा बाहर मौजूद हो और बच्चेकी सच्ची

कातर पुकार हो। मा मौजूद नहीं होगी तो बिना सुने कैसे आयेगी और बच्चेकी पुकार केवल बनावटी और विनोदभरी होगी तो मा सुनकर भी अपनी आवश्यकता न समझकर नहीं आयेगी। परन्तु कातर पुकार सुननेपर तो मासे रहा ही नहीं जायगा। जब माकी यह बात है, तब सारी माताओंका एकत्र केन्द्रीभूत स्नेह जिस भगवान्‌के स्नेहसागरकी एक बूँद भी नहीं है, वह भगवान्‌रूपी मा दुखी जीव-सन्तानकी कातर पुकार सुनकर कैसे रह सकेगी। जीव एक तो उसे अपने पास मौजूद मानता ही नहीं, दूसरे उसकी पुकार बनावटी और लोग-दिखाऊ होती है। यदि जीव यह माने कि भगवान् यहाँ मौजूद हैं (जो वे वास्तवमें हैं ही, क्योंकि वे सर्वव्यापी हैं) और वे बड़े दयालु हैं तथा यों मानकर उन्हें कातर स्वरसे पुकारे तो फिर उनके आनेमें देर नहीं होती। द्रौपदीकी पुकारपर चीर बढ़ाना और द्वारकासे तुरंत वनमें पहुँचकर पाण्डवोंको दुर्वासाके शापसे बचाना प्रसिद्ध ही है।

नियमोंका पालन प्रेम और अति दृढ़ताके साथ करते रहें? कृपा तो भगवान्‌की है ही। उस कृपाका अनुभव करते ही मनुष्य भगवदभिमुखी हो सकता है। सदा प्रसन्न रहिये और भगवान्‌की कृपाका दृढ़ भरोसा रखिये। भगवान्‌को नित्य अपने साथ मानिये, फिर पाप-ताप समीप भी नहीं आ सकते। × × ×
निराश तो जरा भी न होइये। भगवान्‌के बलका भरोसा करनेपर निराशा कैसी?

(१७)

भगवत्कृपा

कृपाकी बात लिखी सो कृपा तो भगवान्की सदा सबपर और अनन्त है। हमलोग उस कृपापर जितना ही अपनेको छोड़ सकें, उतना ही लाभ उठा सकते हैं। जो कुछ भी भगवत्कृपाको सौंप दिया गया, वही सुरक्षित हो गया। भगवान्की कृपाके लिये कुछ भी असम्भव या असाध्य नहीं है। सभी स्थितियोंमें सभी प्रकारकी सहायता प्राप्त करनेके लिये भगवान्की कृपाका ही आवाहन करना चाहिये। सबसे अधिक कृपाके प्रसादका पात्र तो वह है, जो अपनी सारी इच्छाओंको सम्पूर्णतया भगवत्कृपाके प्रति समर्पण करके उस कृपासे बननेवाले प्रत्येक विधानमें परम आनन्दका अनुभव करता है। जबतक हम कुछ चाहते हैं, हमारी स्वतन्त्र इच्छा वर्तमान है, तबतक भगवत्कृपापर पूर्ण निर्भरता नहीं है। ऐसा न हो तो कम-से-कम अपनी प्रत्येक आवश्यकताके लिये तो भगवान्की कृपाकी ओर ही ताकते रहना चाहिये। दूसरा भरोसा कोई रहे ही नहीं, तभी उस कृपाका चमत्कार देखनेमें आता है। तभी मनुष्यको यह अनुभव होता है कि वह जिसे असम्भव मानता था, वही भगवत्कृपासे अनायास ही सम्भव हो गया। और इस भगवत्कृपाका द्वार सबके लिये खुला है। जो भी चाहे इसे पा सकता है। क्योंकि भगवान् सबके—जीवमात्रके—सुहृद् हैं; कृपामय ही नहीं, मित्र हैं। कृपा तो परायेपर होती है। प्रेममें तो और भी निकटका सम्बन्ध है। बस, यही करनेका प्रयत्न कीजिये।

(१८)

साधन और भगवत्कृपा

आपका कृपापत्र मिले बहुत दिन हो गये। मैं यहाँ बाढ़पीड़ितों-के काममें लगा था, फिर श्रावणमें कलकत्ते चला गया, वहाँ बहुत दिन लग गये। स्वभावदोष तो है ही, इन्हीं सब कारणोंसे पत्रका उत्तर लिखनेमें देर हो गयी, क्षमा करें।

आप मुझको गुरुरूपसे देखते हैं, इस विषयमें मेरा यह निवेदन है कि आप ऐसा मानकर बड़ी भूल कर रहे हैं। मैं साधारण मनुष्य हूँ और किसी दूसरेका जिम्मा लेनेमें अपनेको असमर्थ देखता हूँ। गुरु तो वह हो सकता है जो स्वयं दोषरहित हो और जिसमें परमात्माकी प्रदान की हुई ऐसी प्रबल सात्त्विक शक्ति हो जिसके द्वारा वह शिष्यके किसी प्रयासकी अपेक्षा न रखकर अनायास ही उसके समस्त दोषोंका नाश करके उसे भगवान्‌के पथपर ला सके, और अपनी शक्तिसे ही उसे भगवान्‌के परमपदपर पहुँचा दे। मैं तो स्वयं अपने अंदर ऐसे दोषोंको देखता हूँ जिनसे छूटनेके लिये मुझे बार-बार प्रयास करना पड़ता है। ऐसी हालतमें मैं किसीका गुरु बनकर उसका जिम्मा लेता हूँ तो शायद उसके साथ विश्वासघात करता हूँ और अपनेको भी धोखा देता हूँ। इसलिये आप मुझे गुरु न मानकर अपना एक मित्र ही मानिये। आप चाहेंगे तो मैं अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार आपको सलाह देनेकी चेष्टा अवश्य करूँगा

महापुरुष और महात्मा

'महापुरुष' और 'महात्मा' शब्द आजकल बहुत सस्ते हो गये हैं। मेरी समझमें तो ऐसा आता है कि शक्तिसम्पन्न सच्चे महापुरुष या महात्माका एक बारका दर्शनमात्र ही मनुष्यके कल्याण-के लिये पर्याप्त होता है। मैं तो ऐसे महापुरुषोंकी चरण-रजको बार-बार नमस्कार करता हूँ और समझता हूँ कि उनकी चरण-रजका प्रसाद-कण मुझे मिला करे तो मैं धन्य हो जाऊँ।

आपने लिखा कि मुझसे जितना जो कुछ यत्किञ्चित् साधन बनता है मैं लगनसे करता हूँ। उससे जी नहीं चुराता, परन्तु उससे अधिक बनता ही नहीं इसके लिये क्या करूँ।' सो मेरी समझमें तो यही आता है कि मनुष्य इससे अधिक और कुछ कर भी नहीं सकता। वह जी न चुराकर लगनके साथ जितना बन सके उतना किये जाय, तो शेष सब भगवान् आप ही कर-करा लेते हैं। परन्तु इतना याद रहे कि साधन या पुरुषार्थके बलपर भरोसा न रक्खे। भरोसा रखना चाहिये भगवान्‌की अनन्त कृपापर ही। किसी भी साधनके मूल्यपर भगवान् या भगवत्प्रेम नहीं खरीदा जाता। भगवान् या भगवत्प्रेम अमूल्य निधि है, उसकी कीमत कोई चुका ही नहीं सकता। भगवान् जब मिलते हैं, जब अपना प्रेम देते हैं—तब केवल कृपासे ही। वे देखते हैं, 'पानेवालेकी चाहको और उसकी लगनको।' यदि उसकी चाह सच्ची और अनन्य होती है, और यदि वह अपनी शक्तिभर तत्परताके साथ लगा रहता है तो भगवान् अपनी कृपाके बलसे उसके सारे विघ्नोंका नाश करके

बड़े प्यारसे उसको अपनी देख-रेखमें रख लेते हैं और स्वयं अपने निज स्वरूपसे उसके योगक्षेमका वहन करते हैं ।

कृत्रिमता या धोखा नहीं होना चाहिये, और अपनी शक्तिभर कमी नहीं होनी चाहिये फिर चाहे साधन हो बहुत थोड़ा ही, वही भगवत्प्रसादकी प्राप्तिके लिये काफी होता है । और भगवत्प्रसाद उसकी कमीको आप ही पूर्ण कर लेता है । साधनपर जोर तो इसलिये दिया जाता है कि मनुष्य भूलसे कहीं आलस्य, प्रमाद और अकर्मण्यताको ही निर्भरता न मान बैठे, कहीं तमोगुणको ही गुणातीतावस्था न समझ ले । जो यथार्थमें भगवान्‌पर निर्भर करते हैं उनके लिये किसी भी साधनका कोई मूल्य नहीं है, उनके तो सारे कार्य भगवत्प्रसादसे ही होते हैं, और वह ऐसे विलक्षण होते हैं कि किसी भी साधनसे वैसे होनेकी सम्भावना नहीं है । कहाँ भगवत्कृपा और कहाँ मनुष्यकृत तुच्छ साधन !

आपके मनमें भगवद्भजनके फलस्वरूप कुछ भी पानेकी इच्छा नहीं है, आप भजनके लिये ही भजन करना चाहते हैं यह बहुत ही ऊँची बात है । बदला पानेकी इच्छा ही निर्बलता, शिथिलता और व्यभिचारभावकी उत्पत्ति करती है । भजन यदि भजन बढ़नेके लिये ही—भजनके उत्तरोत्तर विशुद्ध और अनन्य होनेके लिये ही किया जाय तो वैसा भजन बहुत ही ऊँची चीज होती है । वैसे भजनके सामने मुक्ति भी तुच्छ समझी जाती है । परन्तु ऐसा भजन भी भगवत्कृपाके बलसे ही होता है । भजनमें कहीं अहंकार न आने पावे । अहंकारसे बड़ी बाधा उत्पन्न होती है । भजनमें तो आसक्ति होनी चाहिये ।

आप भजनसे उकताते नहीं हैं यह बड़ी अच्छी बात है। उकताता वही है जो जल्दी ही किसी फलकी इच्छासे भजन करता है या जिसके भजनमें श्रद्धा और अनुरागका अभाव होता है। श्रद्धा और अनुरागके साथ निष्काम भजन करनेवाला क्यों ऊबने लगा।

बस, करते जाइये; कभी थकिये मत; परन्तु किसी बातकी अपेक्षा न रखिये। प्रतीक्षा करनी हो तो कीजिये एकमात्र भगवत्कृपाकी। विश्वास कीजिये—भगवत्कृपा तो आपपर पूर्ण और अनन्त है ही, वह तो सभीपर है, आप जितना-जितना उसका अनुभव कर पाते हैं उतना-उतना ही आप अपनेको सुरक्षित और निर्भय पाते हैं, उतना-उतना ही आपका भजन बढ़ता है। और जितना-जितना विशेष अनुभव करेंगे, उतनी-उतनी ही आपकी निर्भरता, निर्भयता और भजनशीलता बढ़ती चली जायगी।

---

(१९)

भगवत्कृपाका सहज प्रवाह

… साधनमें अपनी जानमें त्रुटि न हो और फलकी कोई भी शर्त न रहे, यही तो साधनाका सच्चा परमार्थ है। भगवान्‌की सहज कृपाका प्रवाह हमारी ओर निरन्तर आ रहा है। हम बीचमें अपनी शर्तें रखकर उस प्रवाहकी स्वाभाविक कल्याणमयी गतिमें बाधक बन जाते हैं। वह जैसे आता है, उसे वैसे ही आने दिया जाय। उसका कैसा स्वरूप होगा, वह कब हमारे समीप पहुँचेगा, और वह किस प्रकारसे आवेगा—यह जाननेकी कोशिश नहीं करनी चाहिये।

सब उन्हींपर छोड़ देना चाहिये । यह चाहना तो दोपकी बात नहीं कि हमें उनकी कृपा प्रत्यक्ष हो । परन्तु उसके स्वरूप, प्रकार और कालकी चिन्ता न करके उन कृपामयका ही चिन्तन अनवरत करना चाहिये । बिना किसी शर्तके अपनेको निरालम्ब मानकर छोड़ देना चाहिये उनके श्रीचरणोंकी कृपाके भरोसेपर । वे जब, जैसे, जो उचित समझेंगे, वही कल्याणमय होगा । हम अल्पमति अदूरदर्शी प्राणी कहाँतक सोच सकते हैं । हमारा सोचना निर्भ्रान्त होगा, यह आशा भी नहीं है । हमें सोचना चाहिये केवल उनको; फिर वे सोचेंगे हमारी बात । हमारा कल्याण किस बातमें है— यह भी वे ही सोचेंगे और 'कल्याण' का वह साधन भी वे ही जुटा देंगे । उनके समान सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, परम सुहृद् और कौन होगा ? परन्तु भगवान्‌के भजनका प्रेमी तो इस तरहकी बात भी नहीं सोचता । उसके लिये तो भजन ही 'परम कल्याण' है, जिसे वह कर रहा है । बस, भगवान्‌का भजन छूटना ही उसके लिये महान् सङ्कटका प्रसङ्ग है—

'तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता'—

नारदजीका यह सूत्र इसी बातको बतलाता है । चाहना-पाना कुछ नहीं । कभी उनकी विस्मृति न हो !

(२०)

मोहनकी मुसक्यान

जाना और आना, यही तो संसारका स्वरूप है । यह यात्रा-का प्रसङ्ग चला ही आ रहा है, चलता ही रहेगा । भगवान्‌की

सृष्टिमें इसका कभी कहीं विराम नहीं है। परन्तु सभी अवस्थाओंमें सभी जगह भगवान् हमारे साथ हैं। इस पार्थिव संसारमें बस, एक भगवान् ही नित्य हैं, जो सदा सब जगह रहते हैं—जीवन-मृत्यु, दुःख-सुख, हानि-लाभ, मान-अपमान, सभीमें ये मुँह छिपाये सदा हँसते रहते हैं। इनकी मुसक्यान है बड़ी मधुर; परन्तु ये दीखते नहीं, छिपे रहते हैं। जो अपने सुखकी स्पृहा छोड़कर केवल इन्हीं-की ओर अपने मानस नेत्रोंको लगाना चाहता है, उसके सामनेसे ये योगमायाका पर्दा हटा लेते हैं। फिर तो सर्वत्र असीम माधुर्य-सौन्दर्य, महान् आनन्द और विशाल शान्ति, दिव्य ज्योति और शीतल प्रकाश ही दिखायी देता है; इनकी हँसी ऐसी ही होती है—ऐसी ही है।

अपने साधन-भजन और आचरणकी बात लिखी सो ठीक है। भगवत्कृपासे असम्भव भी सम्भव हो सकता है, इस बातपर विश्वास कीजिये। अपनी ओरसे आप जैसे और जो कुछ भी हैं, स्पष्ट होकर अपनेको सदा भगवान्के प्रति निवेदन करते रहिये। आप तो बहुत अच्छे हैं, बहुतोंसे बहुत भले हैं। वे तो महान् पापीको भी ग्रहण करनेमें नहीं सकुचाते। पापीका सारा पाप लेकर स्वयं उसको धोते हैं—वैसे ही जैसे मा छोटे शिशुका मल धोती है बिना किसी घृणाके, अत्यन्त स्नेहसे, प्रसन्न हुई। माताका उदाहरण भी पूरा नहीं घटता—क्योंकि माताका स्नेह उनके स्नेहकी छायाकी भी छाया नहीं है।..........................आपको जो कुछ करना पड़े, करिश्मे देखने पड़ें, उन्हें आप अभिमानके पल्ले बाँधकर उनका महत्त्व गँवाइये मत। ये सब करिश्मे भगवान्के हैं। उनकी लीलाके

अङ्ग हैं। देख-देखकर प्रसन्न होते रहिये। आनन्द लूटिये। रोनेके अभिनयमें भी अंदर-ही-अंदर हँसिये। उनके विधानके उत्ससे सदा आनन्दका ही स्रोत बहता है। विपत्ति-आपत्ति, प्रतिकूलता-परवशता, अपमान-तिरस्कार, पीड़ा-मृत्यु, सभीमें उनकी आनन्दभरी मुसक्यान देखिये। भगवान्‌के प्रत्येक दानको आनन्दसे ग्रहण कीजिये।

---

(२१)

भगवत्प्रेमकी अभिलाषा

आपके अंदर जबतक दोष हैं, तबतक अपनेको कभी उत्तम नहीं समझना चाहिये। सारे दोषोंका मिट जाना मालूम होनेपर भी दोषोंकी खोज करनी चाहिये, तथा जरा-सा भी दोष शूलकी तरह हृदयमें चुभना चाहिये। जबतक किञ्चिन्मात्र भी दूषित भाव हृदयमें रहे, तबतक सूरदासजीकी भाँति अपनेको महान् पातकी ही मानकर प्रभुके सामने रोना चाहिये। आपने जैसा मुझको लिखा है, ऐसा ही बल्कि इससे भी और स्पष्ट अन्तर्यामी प्रभुसे अपने हृदयकी आर्त भाषामें कहना चाहिये। मनुष्य शायद न सुने, किसीकी भाषाका मर्म न समझ सके, समझकर भी लापरवाही कर दे और समझ भी ले किन्तु शक्ति न होनेसे कुछ भी सहायता न कर सके, परन्तु भगवान्‌में ये सब बातें कोई-सी नहीं हैं। वह सुनते हैं, सबके हृदयकी भाषाका रहस्य समझते हैं, लापरवाही भी नहीं करते और सर्व प्रकार दोष-दुःख दूर करनेकी उनमें पूर्ण सामर्थ्य भी है, इसलिये मनुष्यको अपने दोष-दुःखोंका नाश करनेके लिये प्रभुसे ही प्रार्थना करनी चाहिये। प्रभु अन्तर्यामी हैं, सब कुछ जानते हैं, परन्तु

प्रार्थना किये बिना, हमारे चाहे बिना, उनके द्वारा सदा किया जानेवाला उपकार हमपर प्रकट नहीं होता। तथा ऐसा विशेष रूपसे अद्भुत कार्य भी नहीं होता जो चाहनेपर होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि चींटीकी चालके बदलेमें भगवान् इच्छागति गरुड़की चालसे ही आते हैं, परन्तु चींटीकी चालसे भी उनकी ओर चल पड़ना तो हमारा ही कार्य है। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४। ११) का यही रहस्य है कि मनुष्य उन्हें चाहने लगे। उनकी तरफ अपनी ही चालसे चलना शुरू कर दे, फिर भगवान् अपनी चालसे चलकर उसके पास बात-की-बातमें पहुँच जायँगे। हमारी मन्द गतिके बदलेमें वे अपनी तेज चाल नहीं छोड़ेंगे। परन्तु उनकी ओर चलना, उन्हें चाहना होगा पहले हमें। आप चल पड़े हैं, तो प्रभुके वाक्योंपर विश्वास रखिये, वे आपकी ओर द्रुत गतिसे आपके मनकी गतिके अनुसार ही अपनी तीव्र गतिसे आ रहे हैं, यदि नहीं चले हैं तो सब कुछ भूलकर चल पड़िये और फिर देखिये कितनी जल्दी वे आते हैं। भगवान्में अनन्य प्रेमकी भिक्षा अनन्यप्रेमी भगवान्से ही माँगनी चाहिये। यदि हमारी अभिलाषा सच्ची होगी तो अनन्य प्रेम अवश्य मिलेगा। अनन्य प्रेमकी आपको अभिलाषा है, यह बड़े ही सौभाग्य और आनन्दकी बात है। भगवान्में विशुद्ध और अनन्य प्रेम होनेकी अभिलाषासे बढ़कर कोई सौभाग्यभरी उत्तम अभिलाषा नहीं है। यह सर्वोच्च अभिलाषा है, जो मोक्षतककी अभिलाषाको लात मार देनेके बाद उत्पन्न होती है। भगवत्प्रेम पञ्चम पुरुषार्थ है, जो मोक्षकी इच्छाके भी त्यागसे होता है। और जिसके परे श्रीभगवान्के सिवा और कुछ भी नहीं है। बल्कि भगवान् भी उस

प्रेमकी डोरमें बँधकर प्रेमीके नचाये नाचते, बाँधे बँधते, जन्माये जन्मते और मारे मरते हुए-से प्रतीत होते हैं। विशुद्ध और अनन्य प्रेमकी महत्ता और कौन कहे, यह प्रेम प्रेमार्णव भगवान्‌से ही मिलता है। दूसरे किसमें शक्ति है, जो इसका व्यापार करे।

महापुरुषको आत्मसमर्पण

निश्चय ही अच्छे पुरुष ग्रहण करके छोड़ते नहीं, यदि ग्रहण वास्तविक दानसे हुआ है तो वह कभी छूटता भी नहीं। फिर बदनामी-खुशनामीका तो प्रश्न ही नहीं रह जाता। यदि हमें किसी महापुरुषने ग्रहण कर लिया है तो फिर हम यह क्यों सोचें कि किस कार्यमें उसकी बदनामी-खुशनामी होगी और उसे क्या करना चाहिये। यदि उसमें इतनी ही सोचनेकी शक्ति नहीं है तो वह महापुरुष कैसा ? अतएव हम-सरीखे साधारण पुरुषोंका महापुरुषोंपर विश्वास होना ही हमारे कल्याणके लिये काफी है! परम विश्वाससे ही शरणागति होती है। आत्मसमर्पण होता है। और पूर्ण समर्पण हो चुकनेपर हमारे लिये चिन्ताका कोई कारण रह ही नहीं जाता। जबतक चिन्ता है, तबतक समर्पणमें कमी समझकर उसे पूर्ण करनेकी चेष्टा रखनी चाहिये। समर्पणकी पूर्णता विश्वास और श्रद्धासे होती है।

(२२)

पतन करनेवाले तीन आकर्षण

आपने अपने पत्रमें जो दो दोष लिखे—१—दूसरी स्त्रियोंके प्रति

मन खराब होना और २—मान-बड़ाई पानेकी इच्छा; और इनके नाश होनेका उपाय पूछा सो आपकी बड़ी सदिच्छा है ।

सचमुच जगत्‌में तीन ही सबसे बड़े आकर्षण हैं । १—धन, २—स्त्री (स्त्रीके लिये पुरुष) और ३—मान-बड़ाई । इसीलिये शास्त्रकारों और अनुभवी संतोंने काञ्चन, कामिनी और मान-प्रतिष्ठाको परमार्थसाधनमें सबसे बड़े विघ्न मानकर इनसे बचनेका उपदेश दिया है । इनमें जिनका चित्त आसक्त है, उनसे कौन-सा पाप नहीं हो सकता ? पापोंके होनेमें प्रधान कारण इनमें हमारे चित्तकी आसक्ति ही है । इससे बचनेका उपाय है इनमें वैराग्य होना और भगवान्‌में आसक्ति होना । याद रखना चाहिये जैसे विषयासक्ति समस्त पापोंका मूल है उसी प्रकार भगवदासक्ति समस्त पापोंका समूल नाश करनेके लिये महान् शस्त्र है । विषयोंमें दोष-दुःख देखकर उनसे मन हटाना और भगवान्‌के दिव्य गुण, प्रभावको पढ़-सुन और समझकर उनमें मन लगाना—ये दोनों कार्य साथ-साथ चलने चाहिये । भगवान्‌के दिव्य गुण और उनके सौन्दर्य-माधुर्यमें विश्वास हो जानेपर तो विषयोंके आकर्षण अपने-आप ही नष्ट हो जाते हैं । सूर्यके सामने दीपकको कौन पूछता है । जबतक वैसा न हो तबतक भगवान्‌के दिव्य गुणोंमें विश्वास जमाने और मन लगानेकी तथा विषयोंसे मन हटानेकी कोशिश करनी चाहिये । सोचना चाहिये जिस स्त्रीके शरीरको हम रमणीय मानते हैं, वस्तुतः वह कैसा है । हड्डी, मांस, रुधिर, मेद, मज्जा, विष्ठा, मूत्र, श्लेष्म, चर्म आदिमें यथार्थमें कौन-सी वस्तु रमणीय है ? स्त्रीके शरीरके अंदर क्या

है इस बातको विचारपूर्वक देखना चाहिये। तब उससे मन हटेगा, घृणा हो जायगी। श्रीसुन्दरदासजी महाराजने कहा है—

कामिनीको अंग अति मलिन महा अशुद्ध,
रोम-रोम मलिन, मलिन सब द्वार है।
हाड़, मांस, मज्जा, मेद, चर्मसूँ लपेट राखे,
ठौर ठौर रकतके भरे हू भंडार हैं॥
मूत्र हू पुरीष-आँत एकमेक मिल रही,
और हू उदर माँहि विविध विकार हैं।
सुन्दर कहत नारी नख सिख निन्दारूप,
ताहि जो सराहै सो तो बड़ोई गँवार है॥

यही बात स्त्रीको पुरुष-शरीरके लिये समझनी चाहिये। इस प्रकार विचार करनेसे स्त्रीमें रमणीयता-बुद्धिका नाश होकर वैराग्य हो जाता है।

दूसरा उपाय है—स्त्रीमें भोग्यबुद्धिका नाश होना। जगत्‌की सारी स्त्रियोंमें जगज्जननी भगवतीकी भावना करके सबमें मातृभाव हो जानेसे भोग्यबुद्धिका नाश हो जाता है।

स्त्री-दर्शन तो बुरा है ही, स्त्री-चिन्तन भी बहुत बुरा है। जहाँतक हो सके स्त्री-चिन्तनसे चित्तको हटाना चाहिये। 'स्त्रीकी ओर दृष्टि न डालनेकी कोशिश करनेपर भी उसके पैरोंकी आहट सुनते ही मन उधर दौड़ने लगता है।' इसका कारण यही है कि स्त्रीके रूप और सुखमें चित्त आसक्त है। आसक्ति ज्यों-ज्यों कम होगी, त्यों-ही-त्यों आकर्षण नष्ट होगा।

गायत्री-जाप बढ़ानेसे भी इस पापवासनासे छुटकारा मिल सकता है। इसी कामनासे गायत्री-जाप करना चाहिये।

मान-बड़ाईकी बीमारी तो बड़ी दुःसाध्य है। भगवान्की कृपासे ही इसका यथार्थ नाश होता है। मान-बड़ाईमें मनुष्य एक प्रकारके सुखका-सा अनुभव करता है। मानसे भी बड़ाईकी कामना अधिक प्रबल होती है। बड़ाईके लिये मनुष्य मानका भी त्याग कर देता है। वस्तुतः मानका ही विशेष विकसित रूप बड़ाई है। मान-बड़ाई किसी अंशमें लाभदायक भी माने जाते हैं। कारण, मान-बड़ाईके लोभसे मनुष्य बहुत बार दान-पुण्य, सेवा-सत्सङ्ग, भजन आदि सत्कार्य करता है जो मान-बड़ाईकी इच्छा होनेके कारण उसको मोक्षस्वरूप महान् फल न दे सकनेपर भी अन्तः-करणकी शुद्धिमें सहायक होते हैं। परन्तु मान-बड़ाईकी इच्छा दम्भकी उत्पत्तिमें बड़ी सहायक होती है। मान-बड़ाईकी इच्छासे किये जानेवाले कर्मका उद्देश्य ऊँचा नहीं होता। सत्सङ्ग, भजन आदि भी मान-बड़ाईके उद्देश्यसे होते हैं। ऐसी अवस्थामें ऐसा करने-वालेको सत्सङ्ग-भजनकी इतनी परवा नहीं होती—जितनी मान-बड़ाईकी होती है। धीरे-धीरे सत्सङ्ग-भजनसे उसका मन हट जाता है और फिर वह मान-बड़ाईकी चाहसे भजन-सत्सङ्ग आदिका दम्भ करता है। और यदि भजन-सत्सङ्गादि सत्कार्योंमें मान-बड़ाई मिलनेकी आशा नहीं होती तो फिर वह भजन, सत्सङ्गादिको स्वरूपतः भी त्याग देता है। जिन कार्योंमें मान-बड़ाई मिलती है, वही करता है। अतएव मान-बड़ाईकी इच्छा सन्मार्गमें रुकावट तो है ही। कुसङ्गवश बुरे लोगोंमें मान-बड़ाई पानेकी इच्छा

उत्पन्न होनेपर यह बड़े-से-बड़े पतनका कारण भी बन जाती है। यही सब सोचकर मान-बड़ाईसे चित्त हटाना चाहिये।

आपने लिखा प्रभुके सामने रोनेके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है, सो यह उपाय तो सर्वोत्तम है। रोना अभी नकली हो तो भी घबराइये नहीं, नकली ही साधनस्वरूप होनेसे एक दिन असली बन जायगा। और जिस दिन असली आँसू गिरेंगे उस दिन भगवान् आँसू पोंछनेको तैयार मिलेंगे और हमारी प्रार्थना सुनकर हमें इन पापोंसे मुक्त कर देंगे।

---

(२३)

विषयकामनाकी आग

आपने अपने दोषोंकी बात लिखी सो यह आपकी सौजन्यता है। दोष दीखने लगते हैं तो उनका प्रतीकार करनेकी भी इच्छा और चेष्टा होती है। दोष तो मनुष्यमें आ ही गये हैं और तबतक उनका पूरा नाश नहीं होता, जबतक कि भगवत्-साक्षात्कार न हो जाय। सत्सङ्ग, शुद्ध सात्त्विक वातावरण, भजन आदिसे वे दोष दब जाते हैं, वैसे ही छिप जाते हैं जैसे अच्छे शासकके राज्यमें चोर-डाकू; परन्तु वे सहज ही मरते नहीं। यदि बाहरसे कोई सहायक या साथी न मिले और लगातार दबते ही चले जायँ तो क्षीण होते-होते अन्तमें वे मरण-तुल्य हो जाते हैं, सिर उठानेलायक नहीं रहते और फिर भगवत्साक्षात्कार होते ही सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, फिर उनकी जड़ ही नहीं रह जाती। परन्तु जबतक ऐसा नहीं

होता तबतक उनसे सावधान ही रहना चाहिये। इसका उपाय यही है कि सदा-सर्वदा शुद्ध वातावरणमें रहे, सत्सङ्गका पहरा रक्खे और भजनके द्वारा उन्हें दबाता चला जाय। दरवाजा बंद हो, बाहर पहरा हो और अंदर बराबर मार पड़ती रहे तो स्वाभाविक ही फिर नये दोष आ नहीं सकते और पुराने क्षीण होते रहते हैं। ऐसा न होनेसे, द्वार खुला रखने और पहरा न बैठानेसे अर्थात् विषयमोहपूर्ण वातावरणमें रहने और सत्सङ्ग न करनेसे बाहरके दोष आते रहते हैं जिनसे अंदरवालोंको बल मिलता रहता है। और नये डाकुओंके आ जानेसे जैसे पुरानोंका बल बढ़ता है और पुरानों-के मिल जानेसे नये भी प्रबल हो उठते हैं, ऐसे ही नये दोषोंके आते रहनेसे पुराने उभड़ पड़ते हैं, बलवान् हो जाते हैं और नयोंको भी बलवान् बना देते हैं। इसलिये जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है उसे बड़ी सावधानीके साथ नये दोषोंको समीप आने न देना चाहिये और सदा जाग्रत् रहकर पुरानोंको मारनेका प्रयत्न करते रहना चाहिये। उन्हें दबे देखकर—सामने प्रत्यक्ष न पाकर यह नहीं समझ लेना चाहिये कि मैं निर्दोष हो गया; अब कुछ भी करूँ, कोई भय नहीं है। जरा-सी ढिलाई पाते ही मौका मिलते ही इर्द-गिर्दमें छिपे हुए नयें दोष आकर पुरानोंको प्रबल कर देंगे और जगत्‌में मनुष्यजीवनके लिये इससे बढ़कर और कोई हानि नहीं है। संसारका बड़े-से-बड़ा ऐश्वर्य प्राप्त होनेपर भी यदि ये दोष रह जाते हैं और मनुष्य भगवान्‌की ओर नहीं लग पाता तो उसका जीवन व्यर्थ ही नहीं, भावी दुःखके कारणरूप पाप बटोरनेका साधन हो जाता है। वह यहाँ और वहाँ कहीं भी शान्ति नहीं पा सकता।

मोहवश किसी-किसी समय शान्ति मान बैठता है ! विषयोंका कहीं अन्त आता ही नहीं, भला इनसे किसको शान्ति मिली है ? ये तो ज्यों-ज्यों मिलेंगे त्यों-ही-त्यों कामनाकी आगको भड़काते ही रहेंगे। ज्वाला और ताप बढ़ेंगे, घटेंगे नहीं। यह ध्रुव सत्य है। मनुष्य मोहसे ही इनमें शान्ति और शीतलता खोजता है। आखिर किसी-न-किसी समय भगवत्कृपासे उसको इनसे निराशा होती है; तब वह उस शाश्वत, नित्य और सत्य सुख-शान्तिकी खोजमें लगता है; और तभी उसका जीवन सच्ची साधनाकी ओर अग्रसर होता है। दोष और पापोंका जन्म तो होता है इस विषयासक्तिसे। इससे बचना चाहिये; और इसके बदलेमें विषयविरागपूर्वक भगवच्चरणोंमें आसक्ति पैदा करनी चाहिये। वस्तुतः वे ही बड़भागी हैं जो भगवच्चरणानुरागी हैं। विषयोंके पीछे पड़े हुए सदा अतृप्तिकी आगमें जलनेवाले मनुष्य बड़भागी नहीं हैं। भले ही उनके पास औरोंकी अपेक्षा विषयसम्पत्ति कहीं प्रचुर हो। आग जितनी बढ़ी होगी, उतनी ही अधिक भयानक होगी, यह याद रखना चाहिये।

धनमें तो एक विशेष प्रकारका नशा होता है जो मनुष्यकी विचारशक्तिको प्रायः भ्रमित कर देता है। उसकी बुद्धि चक्कर खा जाती है। इसीसे वह अशुभमें शुभ और अकल्याणमें कल्याण देखता है।

कनक कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाय।
वह खाये बौरात है यह पाये बौराय॥

हाँ, यदि संसारके सब कर्म शुद्ध और निष्कामभावसे केवल भगवत्-पूजाके लिये ही होते हों तो अवश्य ही वे बाधक नहीं

होते। वैसी स्थितिमें धन कमाना और विषयसेवन करना भी बुरा नहीं है बल्कि उससे भी लाभ होता है; परन्तु यह होना है कठिन। उसका तरीका और फल भगवान् बतलाते हैं—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
(गीता २। ६४)

'राग-द्वेष न हो, शरीर-मन-इन्द्रियाँ पूर्णरूपमें वशमें हों। किसी विषयपर मन-इन्द्रियाँ न चलें, कर्तव्यवश भगवत्सेवाके लिये ही बिना किसी आसक्तिके और द्वेषके निर्दोष विषयोंका सेवन हो तो उससे प्रसादकी प्राप्ति होती है। और प्रसादसे सारे दु:खोंका नाश हो जाता है। 'प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते।' (गीता २। ६५) परन्तु संसारमें ऐसे कितने विषयसेवी हैं जो इस प्रकार विषयोंको भगवान्‌की पूजाकी सामग्री बनाकर केवल भगवत्पूजाके लिये ही उनका अनासक्तभावसे सेवन करते हैं।

आपने बहुत सत्सङ्ग किया है। आप सब समझते ही हैं। थोड़ी-बहुत जो काई आ गयी है, उसे हटाकर भगवत्-भजनमें लग जाना चाहिये। इससे यह मत समझिये कि मैं काम छोड़नेके लिये कहता हूँ, छोड़नेके लिये कहता हूँ विषयासक्तिको, जिससे दोष जाग्रत् होते हैं और बढ़ते हैं। भगवान्‌पर विश्वास रखकर साधनमें लगे रहिये। फिर वे आप ही बचा लेंगे। कातरभावसे उनके सामने व्याकुल होकर कभी-कभी रोइये, दीन और करुण पुकारपर उनका मन बहुत शीघ्र खिंचता और द्रवित होता है।

(२४)

दो बड़ी भूलें

श्रीभगवान्का भजन करना चाहिये। एक क्षणके लिये भी भगवान्की विस्मृति नहीं होनी चाहिये। जीवनके प्रत्येक क्षणकी, प्रत्येक चेष्टाकी धारा भगवान्की तरफ ही बहनी चाहिये। भगवान्के सिवा और कोई भी लक्ष्य नहीं होना चाहिये। तथा लक्ष्यकी विस्मृति किसी समय नहीं होनी चाहिये। मनुष्य जिस कामसे बार-बार तकलीफ उठाता है, बार-बार उसीको करता है—यह उसकी बड़ी भूल है। विषयोंमें बार-बार दुःखका अनुभव होता है; फिर भी लोग विषयोंके पीछे ही भटकते हैं, सोचते हैं मौका आनेपर भजन करेंगे। मौका आता है, बार-बार आता है। मनुष्य-जीवन भी तो एक मौका ही है, परन्तु इस मौकेको हम हाथसे खो देते हैं। न करनेयोग्य कष्टदायक कामको पुनः-पुनः करना और करनेयोग्य भजनका मौका खो देना—यही दो बहुत बड़ी भूलें हैं। सावधानीके साथ सबको इन दोनों भूलोंका त्याग करना चाहिये।

(२५)

आवश्यक साधन

सप्रेम हरिस्मरण। आपको पत्र लिखनेमें कोई संकोच नहीं करना चाहिये। मेरा तो आप सबके प्रति एक-सा ही भाव होना चाहिये। आपकी दिनचर्या मालूम हुई—बहुत ठीक है। इसी प्रकार करते रहिये। आपके लिखनेके अनुसार आप निरन्तर नाम-

स्मरणका ख्याल रखते ही हैं। कभी-कभी कामके झंझटसे भूल जाते हैं, सो ऐसी भूल तो स्वाभाविक ही हो जाया करती है। विशेष ख्याल रखनेसे भूल कम होगी। 'निरन्तर भगवान्का नामस्मरण होता रहे।' इससे बढ़कर और क्या करना है। निरन्तर नामस्मरण ही भगवान्का सान्निध्य प्राप्त करानेमें पूर्ण समर्थ है। पाँच बातोंका ख्याल रखिये—

(१) पापकर्म (कम-से-कम शरीरसे तो) न हो।

(२) व्यर्थ चर्चा न हो।

(३) किसीके साथ बुरा बर्ताव न हो।

(४) भगवान्के नामचिन्तनकी विशेष चेष्टा रहे।

(५) भगवत्कृपापर विश्वास हो।

आप श्रीविष्णुभगवान्की उपासना करते हैं सो बहुत उत्तम है। ध्यानके लिये समय कम मिलता है, जो कुछ कभी मिलता है—वह दूसरे-दूसरे चिन्तनमें बीत जाता है, लिखा सो ठीक है। नामस्मरण यदि होता रहे तो वह ध्यान ही है।

पाप न हो, विषय-चिन्तन न हो, आलस्य-प्रमादमें समय न बीते, संसारका मोह न हो, एकमात्र भगवच्चिन्तनमें लगे हुए ही सब काम हों—आपकी ये सभी कामनाएँ बहुत ही सराहनीय तथा अत्यन्त उत्तम हैं। परन्तु मेरे कुछ लिख देनेसे ही ये पूरी हो जायँगी, ऐसी बात नहीं है। आप इनकी आवश्यकताका पूरा अनुभव करेंगे और भगवत्कृपापर विश्वास करके अध्यवसायमें लग जायँगे तब भगवत्कृपासे ही ये पूरी होंगी। इसके लिये आप श्रीभगवान्से प्रार्थना कीजिये। मुझको लिखनेमें तो संकोच भी करते हैं और मैं इन्हें पूरी करनेमें समर्थ भी नहीं हूँ। भगवान्से निस्सङ्कोच अपनी

ही भाषामें मन-ही-मन कातर प्रार्थना कीजिये । चाहे दिनमें सौ बार कीजिये । भगवान् प्रार्थना सुनते हैं—यह निश्चय है । इतना मेरे कहनेपर विश्वास कीजिये, उनकी कृपासे मनुष्य जिसको असम्भव समझता है, वह भी सम्भव हो सकता है !

श्रीविष्णुभगवान्‌के ध्यानका प्रसंग 'श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश' में बहुत ही सुन्दर है, उसको पढ़िये ।

जब मनमें आवे, तभी निस्सङ्कोच पत्र लिखकर जो कुछ पूछना हो, पूछिये । मेरा उत्तर यदि कुछ देरसे जाय तो क्षमा अवश्य कीजिये ।

(२६)

उत्साह रखना चाहिये

वर्तमान समय और परिस्थिति ऐसी है कि लोगोंके विचार और वृत्तियाँ अधिकांश बुरे मार्गकी ओर खिंच जाती हैं । परन्तु आपने तो बचपनसे ही अपने पिताजीकी छत्रच्छायामें रहकर धार्मिक शिक्षा ग्रहण की है और आपकी रुचि भी सदाचारपालनकी ओर है, इसलिये आप अवश्य ही दृढ़तापूर्वक बुरे विचारों और वृत्तियोंसे बचनेका प्रयत्न करेंगे, ऐसी आशा है । आजकलके स्कूल-कालेजोंकी अवस्था तो और भी भयंकर है । आपके············ने आपको स्कूलसे अलग कर लिया, इससे आप उदास न हों । इसे भगवान्‌की कृपा समझें और घरपर ही सदाचार और सत्सङ्गसम्बन्धी पुस्तकोंका अध्ययन करके अपना ज्ञान बढ़ावें । कभी निराश एवं उदास न हों । सर्वदा उत्साह रक्खें । अपने भोजन, अध्ययन और

घरके काम-काजको इतना नियमित और सात्त्विक बना लें कि उसमें एक क्षणके लिये भी प्रमादको अवसर न रहे। ऐसा करनेसे आपका शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकारका स्वास्थ्य ठीक होने लगेगा। इन सब बातोंके साथ-ही-साथ यदि आप नियमितरूपसे भगवान्‌के नामका जप और उनके सामने अपने कष्टका निवेदन शुरू कर दें तो आपकी अधिकांश विपत्तियाँ स्वयं ही नष्ट हो जायँगी। आप अभी नौजवान हैं। आपकी रग-रगमें उत्साह और स्फूर्तिकी धारा दौड़ती रहनी चाहिये। भगवान्‌के वरद करकमलोंकी छत्रच्छाया सदा ही हमारे सिरपर है और वे निरन्तर हमारा कल्याण कर रहे हैं—ऐसा दृढ़ विश्वास रखिये और शोक-मोह छोड़कर निरन्तर प्रसन्न रहिये।

---

(२७)

पापसे बचनेके उपाय

सप्रेम हरिस्मरण! आपका ७ जुलाईका खेदपूर्ण पत्र मिला। आपको अपने छोटे भाईकी असामयिक मृत्युके लिये जो खेद है, वह स्वाभाविक ही है। उसकी मृत्युमें आपका दूसरोंको ठगनेका सङ्कल्प ही कारण था या उसका अपना अदृष्ट—यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। तथापि उसकी मृत्युमें आपका दोष न होनेपर भी आपकी अबतक जो प्रवृत्ति रही है उसके लिये आपको जितना खेद हो उचित ही है। जैसे-तैसे मनुष्य-जीवन मिला। वह कितने दिन रहेगा—इसका भी पता नहीं; फिर उसीके कुछ कल्पित

सुभीतेके लिये पापाचारका आश्रय लेना परम दुर्भाग्य नहीं तो क्या है? यह जीवन तो केवल श्रीभगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही होना चाहिये। यह दूसरोंके दुःख और तापका कारण बने, इससे बढ़कर शर्मकी बात और क्या हो सकती है?

परन्तु अबतक यह जैसा बीता, उसे जाने दीजिये। अब उसके लिये पश्चात्ताप करने या रोने-धोनेसे कुछ बनना नहीं है। जरूरत है भविष्य सुधारनेकी। दिनभरका भूला यदि शामको घर लौट आवे तो भूला नहीं माना जाता। इसलिये पापमय जीवन भी यदि कोई टक्कर खाकर सुधर जाय तो भगवान्‌की विशेष कृपा ही समझनी चाहिये। इस दुर्घटनासे यदि आपका जीवन निष्पाप और प्रभुपरायण हो जाय तो लौकिक दृष्टिसे बड़ी हानि होनेपर भी आपके लिये तो लाभकी ही बात होगी। परन्तु यह कहा नहीं जा सकता कि आपका आजका पश्चात्ताप भविष्यमें ठहरेगा या नहीं। कष्ट पड़नेपर एक बार तो प्रायः सभीकी आँखें खुल जाती हैं, परन्तु कालकी ऐसी अद्भुत महिमा है कि धीरे-धीरे वह बड़े-से-बड़े दुःख-को भी भुला देता है और मनुष्य फिर अपनी वासनाओंका दास होकर मनमाना नाच नाचने लगता है। यदि आप शान्ति चाहते हैं तो अनन्य भावसे भगवान्‌की शरण लीजिये। हर समय उन्हींका नामजप कीजिये। सब प्रकार कुसङ्ग, कुविचार और कुप्रवृत्तियोंसे दूर रहिये। भजनमें बड़ी शक्ति होती है। वह आपके सारे जीवन-को बदल सकता है। जब जीवन बदलेगा और आपमें सत्त्वगुणका विकास होगा तो जो लोग आज आपसे घृणा करते हैं, वे ही प्रेम करने लगेंगे। पहले आप अपनेको शुद्ध कीजिये। उनकी घृणाको

अपने पापोंका दण्ड समझकर उनका उपकार मानिये और घृणाके बदलेमें भी उनसे प्रेम कीजिये। बाहर कहीं मत जाइये, उन्हींमें रहिये और उनके तिरस्कारको सहन कीजिये। यह सहनशीलता ही आपके चित्तको शुद्ध कर देगी।

यह निश्चय मानिये कि जिस दिन आपका मन अपने पूर्व-जीवनकी ओरसे सर्वथा उदासीन होकर श्रीभगवान्‌के भजनमें अनन्य-भावसे लग जायगा, उसी दिन आप सर्वथा शुद्ध हो जायँगे। गीताजीमें स्वयं श्रीभगवान्‌ने कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
(९।३०)

'कोई बड़ा भारी भी दुराचारी हो, किन्तु यदि वह अनन्यभावसे मेरा भजन करने लगे तो उसे साधु ही समझना चाहिये, क्योंकि अब उसका निश्चय ठीक हो गया है।'

अतः अब आप अपना निश्चय ठीक करके भगवद्भजनमें लग जाइये। कम-से-कम एक लाख भगवन्नामका नित्य जप कीजिये। यदि आजीविकाके लिये कोई काम करनेके कारण इतना समय न मिले तो कम कीजिये किन्तु हर समय भगवान्‌की स्मृति रखिये। बिना संख्याके चुपचाप जीभसे नाम-जप करते रहिये। सबके प्रति सम्मान और सेवाका भाव रखिये। सब प्रकारके पापोंसे दूर रहिये। बहुत सादगीसे कम खर्चसे रहिये और जहाँतक सम्भव हो अपने खाने-पीने लायक पैसा स्वयं ही पैदा कीजिये, किन्तु वह आमदनी किसी पापपूर्ण साधनसे नहीं होनी चाहिये। आपके वहाँ ही जो सत्पुरुष हों—उनका सङ्ग कीजिये। अभी बाहर कहीं जानेकी

जरूरत नहीं है। कम-से-कम छः महीने यदि ठीक साधन चलता रहे तो पीछे कहीं जानेका विचार कर सकते हैं। अभी तो वहीं रहकर मनकी गति परखिये।

ब्रह्मचर्य-रक्षाके साधन

ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिये नीचे लिखी बातोंपर ध्यान रखिये—

१—जान-बूझकर कभी किसी स्त्रीकी ओर मत देखिये।

२—स्त्रियोंकी चर्चामें कभी सम्मिलित मत होइये। ऐसा कोई साहित्य नहीं पढ़ना और नाटक-सिनेमा भी नहीं देखना चाहिये।

३—जब कामोत्तेजना हो तो एक गिलास ठंडा जल पी लीजिये तथा एकान्तमें न रहकर चार आदमियोंके पास आकर कोई सत्-चर्चा चला दीजिये। जोर-जोरसे नामकीर्तन कीजिये।

४—यदि यज्ञोपवीत हो गया हो तो नित्यप्रति कम-से-कम एक घंटा स्थिर आसनसे बैठकर गायत्रीका जप कीजिये। यज्ञोपवीत न हुआ हो तो १४ माला 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' इस मन्त्रका जप कीजिये। आसनोंमें सिद्धासन विशेष उपयोगी रहेगा।

५—शौच जानेके समय मूत्रेन्द्रियको ठंडे जलसे धोइये।

६—नित्यप्रति पवित्र जीवनके लिये रोकर भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये।

७—सब प्रकारकी शौकीनी—जैसे नाटक-सिनेमा देखना, पान-सिगरेट खाना, इत्र-सेंट लगाना, मद्य-मांसादि सेवन करना अथवा बाबुआना वस्त्र धारण करना, सिरपर जुल्फ रखना आदिसे

एक़दम दूर रहिये। जबतक शौकीनी रहेगी ब्रह्मचर्यकी रक्षा असम्भव है।

८—मिर्च-मसाला आदि छोड़कर सादा भोजन कीजिये। मिठाई अधिक न खाइये। आशा है, ऊपर जो कुछ निवेदन किया गया है उसपर यदि आप ध्यान देंगे तो अवश्य आपको कुछ सहायता मिलेगी। अधिक क्या लिखूँ, शेष भगवत्कृपा।

---

(२८)

सात आध्यात्मिक प्रश्न

आपका कृपापत्र मिला। आपने जो प्रश्न किये हैं वे बहुत विचारपूर्ण हैं। मैं यथामति उनपर अपना विचार लिखनेका प्रयत्न करता हूँ। यदि इससे आपका कुछ सन्तोष हो सके तो बड़ी प्रसन्नताकी बात है। आपके प्रश्न अंग्रेजीमें हैं। इसलिये उनका हिन्दी-अनुवाद देते हुए उसके साथ ही अपना उत्तर लिखता हूँ—

प्रश्न १—निम्नलिखित पारिभाषिक शब्दोंका क्या तात्पर्य है—

(१) अचल सत्य।

(२) चल सत्य।

(३) ईश्वर।

(४) मनुष्यको ईश्वरका ज्ञान होना।

(५) आत्मप्रकाश।

(६) अन्त:प्रज्ञा।

(७) अनुभूति।

उत्तर—(१,२) अचल सत्य और चल सत्यसे सम्भवत:

आपका तात्पर्य पारमार्थिक सत्य और व्यावहारिक सत्यसे है। इनके स्वरूपका यदि सूत्ररूपसे उल्लेख किया जाय तो पारमार्थिक सत्य तो सत्यके अपने स्वरूपको कहते हैं, और व्यावहारिक सत्य उसे कहते हैं जिस रूपमें उसीको हम अनुभव करते हैं। वास्तवमें परमार्थ सत्य ही अपनी अचिन्त्य मायाशक्तिसे इस विश्वप्रपञ्चके रूपमें भास रहा है। हम भी उसीकी लीलाशक्तिके एक क्षुद्र विलास हैं। हमारे मन और बुद्धि, जो उसका अनुभव करनेके लिये उत्सुक हैं, वे भी इस व्यावहारिक चेतनाके ही तो क्षुद्र अणु हैं। अतः इनके द्वारा जो कुछ अनुभव किया जाता है वह व्यावहारिक सत्य ही है, भले ही वह ऊँची-से-ऊँची और अत्यन्त अलौकिक वस्तु हो। व्यावहारिक सत्य परमार्थ सत्यमें अध्यस्त हैं और अध्यस्त वस्तु अपनी सत्ता रखते हुए अपने अधिष्ठानका अनुभव किसी प्रकार नहीं कर सकती। अतः इन मन-बुद्धि आदिसे परमार्थ सत्यके स्वरूपका आकलन किसी प्रकार नहीं किया जा सकता; वह स्वतःसिद्ध और स्वानुभूतिमात्र है। फिर भी यह जो कुछ है—उसीका प्रकाश है—इस रूपमें भी क्रीड़ा उसीकी हो रही है। अतः तत्त्वज्ञ पुरुष इस व्यावहारिक सत्यमें भी अपनी विवेकवती दृष्टिसे उसीकी झाँकी कर लेते हैं।

(३) यद्यपि परमार्थ सत्य और ईश्वर दो नहीं हैं, परन्तु 'ईश्वर' यह संज्ञा व्यावहारिक है। जो ऐश्वर्यवान् हो उसे 'ईश्वर' कहते हैं। इस प्रकार राजा, लोकपाल, दिक्पाल और प्रजापति आदि भी 'ईश्वर' शब्दसे कहे जा सकते हैं। किन्तु उनका ऐश्वर्य परिमित है, इसलिये उनमें इस पदका औपचारिक प्रयोग होता है।

निरपेक्ष ईश्वर वही हो सकता है जिसका ऐश्वर्य पूर्ण हो—समग्र हो; ऐसी कोई वस्तु न हो जो उसके ऐश्वर्यसे बाहर हो । ऐसा ऐश्वर्य तो उस 'परमार्थ सत्य' का ही है जिसमें यह निखिल प्रपञ्च अध्यस्त है । अतः इसका अधिष्ठान होनेसे उसे ही परमार्थ सत्य कहा जाता है और इसका स्वामी होनेसे वही ईश्वर है ।

(४) ईश्वरको समग्र ऐश्वर्यवान् जान लेना ही ईश्वरका ज्ञान है । परन्तु यह ज्ञान अपरोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वरताका ज्ञान होनेके लिये उसके सारे ऐश्वर्यका भी ज्ञान होना चाहिये । किन्तु अघटनघटनापटीयसी मायाकी अचिन्त्य शक्ति और अनन्त लीलाका पूर्ण ज्ञान होना किसी भी जीवको सम्भव नहीं है । किसी बड़े राजाके सम्पूर्ण वैभवका ठीक-ठीक ज्ञान होना भी प्रायः असम्भव-सा है, फिर समग्र ऐश्वर्यवान् श्रीभगवान्के वैभवकी तो बात ही क्या है । अतः ईश्वरज्ञानसे अपने शास्त्रोंमें ईश्वरके स्वरूपका ही ज्ञान माना गया है । ईश्वरने अपने स्वरूपको अपनी ही प्रकाशभूता माया और मायाके कार्योंद्वारा ढक-सा रक्खा है; अतः उसका ज्ञान इस मायाके पर्देको हटानेपर ही हो सकता है । इसलिये भगवत्कृपा-जनित ज्ञानके प्रकाशसे मायाकी निवृत्ति होनेपर, जिसका अनुभव होता है वही ईश्वरका स्वरूप है । इसीको वेदान्तकी भाषामें 'ब्रह्म' कहते हैं और इसीसे इसे ईश्वरज्ञान न कहकर 'ब्रह्मज्ञान' शब्दसे कहा जाता है ।

(५, ६, ७) आत्मप्रकाश, अन्तःप्रज्ञा और अनुभूति, जिन्हें आपने क्रमशः Revelation, Intuition और Realization शब्दोंसे कहा है, वास्तवमें अनुभवके ही तीन प्रकार हैं । परन्तु इनके

स्वरूपमें भेद अवश्य है। ये तीनों ही अनुभवकी चरम अवस्थाएँ हैं; किन्तु इनमेंसे प्रत्येक एक विशेष प्रकारके अधिकारीकी अपेक्षा रखता है। आत्मप्रकाश भगवत्कृपासाध्य है। जो साधक सब प्रकारके साधनोंका आश्रय छोड़कर भगवान्‌को आत्मसमर्पण कर देता है, अथवा किसी अन्य कारणसे जिसपर भगवान् स्वयं कृपा करते हैं उसके प्रति वे अपने स्वरूप या ज्ञानको प्रकट कर देते हैं। यही 'आत्मप्रकाश' जब साधकका अपना कोई संकल्प न होनेपर भी संस्कारवश अकस्मात् होता है तो इसे 'अन्तःप्रज्ञा' या 'प्रातिभ ज्ञान' कहते हैं। कई बार यह साधकके जीवनके प्रवाहको बदलनेके लिये भी होता है। ऐसा करके एक प्रकारसे भगवान् स्वयं ही उसका पथ प्रदर्शन कर देते हैं। 'अनुभूति' पुरुषार्थसाध्य है। इसमें भी भगवत्कृपाकी आवश्यकता तो रहती है; किन्तु प्रधानता साधकके प्रयत्नकी ही होती है। यहाँ पहुँचकर ही उसके कर्तव्यकी समाप्ति होती है।

प्रश्न २—जब हम कहते हैं कि वेद ईश्वरकृत हैं तो इसका ठीक-ठीक तात्पर्य क्या होता है? क्या यही कि वे सर्वथा निर्दोष और चरम ज्ञानरूप हैं? (क्या यह निर्दोषता चारों वेदोंके विषयमें समानरूपसे अभिप्रेत है अर्थात् उनमें जितना ज्ञान और विषय निहित है उस सभीके लिये कही जा सकती है अथवा किसी विशेष अंश या मन्त्रके लिये ही?)

उत्तर—वेदोंको ईश्वरकृत नहीं बल्कि 'अपौरुषेय' कहा जाता है। योगदर्शनमें ईश्वरको भी पुरुषविशेष कहा है—'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।' (१।२४) अतः ईश्वरकृत माननेपर इन्हें

अपौरुषेय नहीं कहा जायगा। वास्तवमें बात ऐसी है कि जिस प्रकार इस अनादि प्रपञ्चका अधिष्ठान और कर्ता अनादि है उसी प्रकार इसका ज्ञान भी अनादि है। अनादि ज्ञेयका ज्ञान भी अनादि होना ही चाहिये। परन्तु प्रत्येक अनादि वस्तु व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकारसे रहती है। इन्हें ही उसके सृष्टि और प्रलय अथवा आविर्भाव और तिरोभाव कहते हैं। इसी प्रकार वेदोंका भी आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है; किन्तु जब-जब उनका आविर्भाव होता है तब-तब उनके वर्णोंकी आनुपूर्वी वही रहती है और उनके द्रष्टा ऋषिगण भी वे ही रहते हैं। जिस प्रकार साधारणतया रात्रि और दिन अथवा ऋतुओंके परिवर्तनका क्रम पुनः एक ही रूपमें होता दिखायी देता है उसी प्रकार सृष्टि और प्रलयके क्रममें एक नियत समानता रहती है। अतः वेदोंके आविर्भावका क्रम भी एक-सा ही रहता है। यह नियम केवल मन्त्रसंहिताके लिये ही नहीं बल्कि वैदिक* इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान और व्याख्यानोंके लिये भी है; जैसा कि यह श्रुति कहती है—'अस्य महतो भूतस्य निश्वसित-

---

* श्रौत इतिहासादिका तात्पर्य इस प्रकार समझना चाहिये—इतिहास= उर्वशी-पुरूरवा-संवादादि कथाभाग, पुराण='असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि पूर्ववृत्त, विद्या=देवजनविद्या (नृत्यगीतादि शास्त्र), उपनिषद्='प्रियमित्येवोपासीत' इत्यादि उपासना, श्लोक='यदेते श्लोकाः' इत्यादि ब्राह्मणभागके मन्त्र, सूत्र='आत्मेत्येवोपासीत' इत्यादि वस्तुके संग्राहक वाक्य, अनुव्याख्यान= मन्त्रोंके विवरण और व्याख्यान=अर्थवाद। इस प्रकार यह आठ प्रकारका ब्राह्मणभाग ही है। इस प्रकार चारों मन्त्रसंहिता और सम्पूर्ण ब्राह्मण अपौरुषेय ही हैं।

मेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि' (बृह० २ । ४ । १०) इस श्रुतिमें वेद, उपनिषद् और इतिहास आदि सभीको इस परमपुरुषका श्वास बताया गया है । जिस प्रकार श्वास बिना पौरुष-प्रयत्नके चलता रहता है उसी प्रकार ये सब भी बिना पौरुष-प्रयत्नके ही अभिव्यक्त होते हैं । इसीसे इन्हें अपौरुषेय कहा गया है । मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने भी कर्तृत्वाभिमानशून्य होकर ही इनका साक्षात्कार किया है; ये उनकी बुद्धिसे प्रसूत नहीं हैं, इसलिये इनकी अपौरुषेय संज्ञा उचित ही है ।

प्रश्न ३—यदि वेद ईश्वरकृत हैं तो ईश्वरद्वारा इनके ज्ञानके आविर्भाव और प्रसारका तथा मनुष्यद्वारा उसके ग्रहणका क्या क्रम है ?

प्रश्न ४—क्या यह ज्ञानका प्रसार केवल एक ही बार होता है, या इसकी पुनरावृत्ति भी होती रहती है ?

प्रश्न ५—यदि इसकी पुनरावृत्ति होती है तो क्या इनके द्वारा व्यक्त होनेवाला ज्ञान अपने विस्तार या स्वरूपकी दृष्टिसे समान ही रहता है ?

उत्तर—इन सब प्रश्नोंका उत्तर प्रसंगवश पहले आ चुका है, इसलिये उसकी पुनरावृत्ति करनेकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती । वेदोंका आविर्भाव सृष्टिके आरम्भके समय प्रत्येक कल्पमें होता रहता है और उसके तो ज्ञान ही नहीं, वर्णोंके क्रममें भी समानता ही रहती है । यही शास्त्रोंका सिद्धान्त है ।

प्रश्न ६—यदि समान ज्ञानकी ही पुनरावृत्ति हो सकती है तो चार वेदोंको ही विशेष महत्त्व और प्रधानता क्यों दी जाती है ?

उत्तर—वेदोक्त ज्ञानका भी किसी अधिकारीविशेषको स्वयं अनुभव हो तो सकता है; किन्तु उसे जो अनुभव हुआ है वह वेदोक्त है या नहीं—इसका निश्चय कैसे होगा। साधनके द्वारा जो ज्ञान होता है उसमें साधकके जन्मान्तरके संस्कार, जीवमें स्वाभाविक रूपसे रहनेवाला संकोच और पक्षपात आदि दोषोंके कारण प्रायः अपूर्णता ही रहती है। किन्तु अपनी अपूर्ण प्रज्ञासे वह उसीको पूर्ण मान बैठता है। इसलिये उसके ज्ञानको श्रुतिकी कसौटीपर परखना होता है। वह अपौरुषेय और नित्य ज्ञान होनेके कारण इन दोषोंसे रहित है। इसलिये जो ज्ञान उसके अनुकूल होता है वही प्रामाणिक माना जाता है।

प्रश्न ७—क्या मनुष्यके द्वारा आध्यात्मिक सत्यकी अनुभूतिका अर्थ वही है जो कि ईश्वरके द्वारा उसके प्रति सत्यके आविर्भाव करनेका है ?

उत्तर—इस प्रश्नका उत्तर प्रथम प्रश्न खण्ड ५, ६, ७ के उत्तरमें आ गया है। वहाँ जो बात कही गयी है उसके अनुसार इन दोनों प्रकारके अनुभवोंके साधक और क्रममें तो भेद है किन्तु स्वयं अनुभवमें भेद नहीं होता। साधककी प्रकृतिके भेदसे अनुभवके भी स्वरूप या आस्वादनमें भेद हो सकता है; किन्तु वस्तुतः तत्त्व एक ही है। अतः दोनों ही प्रकारके अनुभवोंसे उन्हें पूर्ण कृत-कृत्यता और शान्तिका बोध हो सकता है।

प्रश्न ८—क्या यह सच नहीं है कि जहाँतक मनुष्यकी गति है उसके लिये चरम और सर्वथा निर्दोष सत्यको प्रस्तुत करना असम्भव

है, क्योंकि मनुष्यका मस्तिष्क विकासशील है और विकास किसी भी अवस्थामें चरमकोटिका या सर्वथा निर्दोष नहीं हो सकता।

उत्तर—मनुष्य किसी भी अवस्थामें चरम और सर्वथा निर्दोष सत्यको प्रस्तुत नहीं कर सकता——यह बात तो बिल्कुल ठीक है क्योंकि जिसमें स्वयं अपूर्णता है वह पूर्ण सत्यका प्रतिपादन कैसे कर सकता है; परन्तु मेरे विचारसे यदि मानव-मस्तिष्कको 'विकासशील' न कहकर 'परिवर्तनशील' कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि प्रत्येक मनुष्यके मस्तिष्कमें उसकी आयुके साथ कुछ विचारोंका विकास होता है तो किन्हीं-किन्हीं गुणोंका ह्रास भी हो जाता है। किन्हीं-किन्हीं व्यक्तियोंका तो ऐसा मन्दभाग्य होता है कि उनका मस्तिष्क दिनोंदिन और भी विकृत और कुण्ठित होता जाता है। इसलिये यह कहना ठीक नहीं मालूम होता कि मनुष्यका मस्तिष्क विकासशील है। जो बात व्यक्तियोंमें देखी जाती है वही जातियों और देशोंके विषयमें भी लागू है। मस्तिष्क ही नहीं, प्रकृतिके सारे ही विकार परिवर्तनशील ही कहे जा सकते हैं, विकासशील नहीं। एक मोटी बात यह भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि प्रत्येक पदार्थ अपने जन्मके बाद जैसे बढ़ना आरम्भ करता है वैसे ही वह अधिकाधिक अपने नाशके समीप भी जाने लगता है। ह्रासकी चरम अवस्था ही विनाश है। अतः यदि उसकी वृद्धिमें केवल विकास ही निहित होता तो उसका अन्तिम परिणाम नाश नहीं होना चाहिये था। इसलिये प्रकृतिके सारे ही कार्य विकासशील नहीं, परिवर्तनशील ही हैं। हाँ, अन्तमें नष्ट होनेवाले होनेसे उन्हें विनाशशील तो कहा जा सकता है।

---

(२९)

कर्म-रहस्य

कर्मके सम्बन्धमें बात यह है कि कर्म तीन प्रकारके हैं—सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण। मनुष्य प्रतिक्षण सकाम भावसे जो कुछ भी कर्म करता है वह 'क्रियमाण' है। मनुष्यका किया हुआ प्रत्येक कर्म कर्मसंग्रहमें संगृहीत होता रहता है जो समयपर कर्म-फलदायिनी भागवती शक्तिके द्वारा 'प्रारब्ध' बनाया जाकर यथा-योग्य शुभाशुभ फल प्रदान करता है। यह जमा होनेवाला कर्म 'सञ्चित' है। इस क्षणके पूर्वतकके हमारे सारे कर्म इस कर्मकी गोदाममें जा चुके हैं। इस कर्म-राशिमेंसे जितने कर्म अलग करके एक जन्मके लिये फलरूपसे नियत कर दिये जाते हैं वही 'प्रारब्ध' है। इसीके अनुसार जाति, आयु, भोग इत्यादि प्राप्त होते हैं। प्रारब्धका यह फल साधारणतया सभीको बाध्य होकर भोगना पड़ता है। कोई भी सहजमें इस प्रारब्धफलभोगसे अपनेको बचा नहीं सकता—'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' इस प्रकार भागवती शक्तिके नियन्त्रणमें प्रारब्धके अनुसार मनुष्यको कर्मफल भोगना ही पड़ता है। परन्तु यह नियम नहीं है कि पूर्वजन्मोंमें किये गये कर्मोंके सञ्चितसे ही प्रारब्ध बने। प्रबल कर्म होनेपर वह इसी जन्ममें सञ्चितसे तुरंत प्रारब्ध बनकर अपना शुभाशुभ फल—फलदानोन्मुख प्रारब्धके बीचमें ही भुगता देता है। इसके भी नियम हैं। मतलब यह कि प्रारब्धके अनुसार जो फल नहीं होना है, वह उस प्रारब्धके अनुसार तो होगा ही नहीं—यह

सत्य है—परन्तु 'वह होगा ही नहीं' यह निश्चित नहीं है। नवीन कर्म करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है, वह कोई ऐसा प्रबल कर्म भी कर सकता है—जो हाथोंहाथ प्रारब्ध बनकर उसे तुरंत फल प्रदान कर दे। जैसे किसीके पूर्वकर्मजनित प्रारब्धके अनुसार 'पुत्र होनेका विधान नहीं है'; परन्तु वह शास्त्रीय 'पुत्रेष्टि यज्ञ' विधि तथा श्रद्धापूर्वक कर ले तो उसको पुत्र हो सकता है। इसी प्रकार-के प्रबल कर्मोंद्वारा धन, मान, आरोग्य, आयु आदि पदार्थोंकी प्राप्ति भी हो सकती है। ठीक ऐसे ही प्रबल अशुभ कर्मोंके द्वारा इसी जन्ममें अशुभ फल भी (पूर्वकर्मजनित प्रारब्धमें न होनेपर भी) मिल सकते हैं। इससे पूर्वकृत कर्मोंके द्वारा बने हुए प्रारब्धका नाश नहीं हो जाता। उसके बीचमें ही नया फल मिल जाता है और उस फलकी अवधि समाप्त होते ही पुनः वही प्रारब्ध लागू हो जाता है।

जैसे कर्म अपना फल अवश्य देता है, यह कर्मका अटल नियम है। वैसे ही यह भी नियम है कि 'सम्यक् ज्ञान' अथवा 'भगवान्‌में पूर्ण समर्पण' से सारी कर्मराशि भस्म भी हो जाती है। 'सञ्चित'—अनन्त जन्मोंके संगृहीत कर्म जल जाते हैं। उनमें 'प्रारब्ध' उत्पन्न करनेकी शक्ति नहीं रह जाती। नवीन 'क्रियमाण' कर्म कर्तृत्वके अभावसे 'सञ्चित' नहीं बन सकते। भूँजे हुए बीजोंसे जैसे अंकुर नहीं उत्पन्न होते, वैसे ही वे सञ्चितका उत्पादन नहीं कर सकते। रहा 'प्रारब्ध' का भोग—सो वह भी भोक्तापनका अभाव और ब्रह्मानन्दस्वरूप हो जानेसे अथवा भगवान्‌के प्रत्येक मङ्गल-मय विधानमें एकरस आनन्दका नित्य अनुभव होते रहनेसे सुख-दुःख

उपजानेवाला नहीं होकर खेलमात्र होता है। इस प्रकार तीनों ही कर्म नष्ट हो जाते हैं। यही कर्मविज्ञानका शास्त्रीय नियम है और यह सर्वथा सत्य है। कर्मकी भूमिकामें इसे असत्य बतलानेका साहस करना दुःसाहसमात्र है।

भगवान्‌की दृष्टिसे बात दूसरी ही है। वहाँ भूत, भविष्य और वर्तमानका भेद नहीं है। उनके लिये सभी वर्तमान है। और जो कुछ भी होता है, सब पहलेसे रचा हुआ ही होता है। यह उनकी नित्यलीला है। जगत्‌की छोटी-बड़ी सभी घटनाएँ उनकी इस नित्यलीलाका ही अङ्ग हैं। वहाँ कुछ भी नया नहीं बनता, केवल नया—नित्य नया-नया दीखता है। रचा हुआ तो है पहलेसे ही। जैसे सिनेमाके फिल्ममें सारे दृश्य पहलेसे अङ्कित हैं, हमारे सामने एक-एक आते हैं, वैसे ही अनन्त ब्रह्माण्डोंके अनन्त अतीत, वर्तमान और भविष्य सभी इस विराट् फिल्ममें अङ्कित हैं। क्षुद्र-से-क्षुद्र जीवका नगण्य संकल्प भी इस फिल्मका ही दृश्य है।
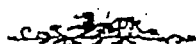
(३०)

आत्माकी नित्य आनन्दरूपता

सदैव बीमारीका द्रष्टा बनकर रहना चाहिये। वास्तवमें रोग आपको है भी नहीं। आप पाञ्चभौतिक क्षयशील शरीरसे सर्वथा भिन्न हैं। शरीरके क्षय-वृद्धि, बुद्धिके सुख-दुःख और प्राणोंकी क्षुधा-पिपासासे असलमें आपका कोई यथार्थ सम्बन्ध नहीं है—भ्रमसे तादात्म्य हो गया है। इसीसे दृश्य-पदार्थोंके विकार आपको अपने

शुद्ध, बुद्ध, नित्यमुक्त एकरस आनन्दस्वरूपमें भास रहे हैं। अपने यथार्थ स्वरूपको पहचानकर सदा निर्भय, निश्चिन्त रहना चाहिये। हो सके तो वाणी या मनसे 'हरिः शरणम्' मन्त्रका जप करना चाहिये। हरिके साथ तादात्म्य प्राप्त करना ही वास्तविक 'हरिशरण' है। इस मन्त्रजापसे इहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकारका कल्याण होता है। इस बातका दृढ़ निश्चय रखना चाहिये कि रोग या मृत्युकी तो बात ही क्या है, महाप्रलय भी आपके कूटस्थ स्वरूपको नहीं हिला सकता।

मायाके खेल बनते और बिगड़ते हैं। इससे आपमें कुछ भी परिवर्तन कभी नहीं होता। मायाका स्वामी महामायावी प्रभु ही इस खेलको खेल रहा है। उसीने अपने रूपका एक खिलौना बना रक्खा है, जो अभी इस नामोपाधिसे युक्त है। वही खेलता है, वही खिलौना है और वही इस खेलको देख भी रहा है। फिर खिलौना अपनेको अलग समझकर चिन्ता क्यों करे? यदि थोड़ी देरके लिये अलग मान भी लिया जाय तो भी वह है तो खिलाड़ीके हाथोंमें ही, उसके हाथसे कभी छूट नहीं सकता। इसलिये सदा प्रसन्न-प्रफुल्लित रहकर अपने नित्य आनन्दमें निमग्न रहना चाहिये। उपाधिसे व्यक्त होनेवाले भावोंमें भी आनन्दका ही प्रवाह बहना चाहिये।

(३१)

श्रीकृष्णका परम स्वरूप और उनका प्रेम

आपका पत्र मिला। आपका लिखना ठीक है। श्रीकृष्ण-प्रेमी भक्त वैष्णव सचमुच ऐसा ही मानते हैं कि तत्त्वरूप निराकार ब्रह्म

भगवान् श्रीकृष्णकी अङ्गकान्ति हैं। परमात्मा उनके अंश हैं, और षडैश्वर्य (समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य) के पूर्ण आधारस्वरूप भगवान् श्रीनारायण श्रीकृष्णके विलास-विग्रह हैं। श्रीकृष्ण और उनकी स्वरूपभूता श्रीराधा सर्वथा अभिन्न हैं। सर्वथा द्वैतरहित एक ही परम भगवत्तत्त्व लीला-रसास्वादनके लिये दो रूपोंमें प्रकट है। इन्हीं दो रूपोंको 'विषय' और 'आश्रय' कहा है। श्रीकृष्ण 'विषय' हैं और श्रीराधाजी 'आश्रय'। विषय 'भोक्ता' होता है और आश्रय 'भोग्य'। लीलाके लिये कभी-कभी श्रीकृष्ण 'आश्रय' बन जाते हैं और श्रीराधाजी 'विषय' सजती हैं। श्रीराधाजी भगवान्के स्वरूपभूत आनन्दका ही मूर्तिमान् रूप हैं। परन्तु लीलाके लिये श्रीराधारानी प्रेमकी परिपूर्ण आदर्श हैं, और भगवान् श्रीकृष्ण आनन्दके। इसीसे लीलामयी श्रीराधाजी भगवान् श्रीकृष्णकी सबसे श्रेष्ठ 'आराधिका' हैं, उन्हें निज सुखका बोध नहीं है। वे जानती हैं श्रीकृष्णके सुखको, और श्रीकृष्णको सुखी देखकर ही नित्य परम सुखका अनुभव करती हैं। उनकी सङ्गिनी और सखी समस्त गोपियाँ भी इसी भावकी मूर्तियाँ हैं। वे श्रीराधाकृष्णके सुखसे ही सुखी होती हैं। उनमें निजेन्द्रियसुखकी वासना कल्पनाके लिये भी नहीं है। इसीसे वे प्रेममय भक्तिमार्ग और प्रेमी भक्तोंकी परम आदर्श पथप्रदर्शिका हैं।

भगवान्के प्रेमी भक्तोंके अनुग्रहसे ही इस प्रेमरूप भक्तिमार्गपर आरूढ़ हुआ जा सकता है। इसके विपरीत भक्तोंका अपराध बन जानेपर साधनासे उत्पन्न भाव भी क्रमशः क्षीण होकर नष्ट हो जाता है। भावकी प्रगाढ़ स्थितिका नाम ही 'प्रेम' है। प्रेममें भी जहाँतक

महिमाज्ञान है वहाँतक कुछ कमी है। वास्तविक प्रेम तो सर्वथा विशुद्ध माधुर्यमय होता है। इस प्रेमपर किसी भी विघ्न-बाधाका कोई भी प्रभाव नहीं होता। यहाँतक कि ध्वंसका कारण उपस्थित होनेपर भी यह ध्वंस नहीं होता—'सर्वथा ध्वंसरहितं सत्यपि ध्वंसकारणे' वरं उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है—'प्रतिक्षणवर्धमानम्।' निर्मल और निष्काम—केवल प्रेम-काममय अन्तरङ्ग साधनोंके द्वारा जो 'भाव' सबसे ऊँचे स्तरपर पहुँचता है उस भावजन्य प्रेमको 'भावोत्थ' कहते हैं। और श्रीभगवान् स्वयं अपने सान्निध्य, सङ्ग और प्रेमदानसे जिस 'भाव' को पोषण करते हैं और जिसे ऊँचे-से-ऊँचे स्तरपर ले जाते हैं, उस 'भाव' से उत्पन्न प्रेमको 'अतिप्रसादोत्थ' कहा है। श्रेष्ठ भावुक भक्तके प्रति श्रीभगवान्‌का यही सर्वोत्कृष्ट दान है। यह साधनसापेक्ष नहीं है। इसकी प्राप्ति तो तभी होती है जब भगवान् स्वयं देते हैं। इस प्रकारकी प्रेमदान-लीला प्रत्यक्षमें एक ही पावन धाममें हुई थी। वह धाम है—'श्रीवृन्दावनधाम'। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष–ये चार पुरुषार्थ हैं। इनमें मोक्ष उच्चतम है। इससे भी उच्च स्तरका पुरुषार्थ—जो भक्तोंकी भाषामें 'पञ्चम पुरुषार्थ' माना जाता है—है 'भावोत्थ विशुद्ध माधुर्यमय प्रेम'। और भगवत्-प्रदत्त 'अतिप्रसादोत्थ' भगवत्स्वरूप प्रेम तो सबसे बढ़कर है। भगवान् श्रीकृष्ण प्रेमस्वरूप हैं, प्रेमके ही वशमें हैं; प्रेमसे ही उनका आकर्षण होता है और उन्हींसे यथार्थ प्रेमकी प्राप्ति होती है। अतएव प्रेम चाहनेवाले साधकोंको प्रेममय श्रीकृष्णकी ही उपासना करनी चाहिये।

ज्ञान और प्रेम

........राग-द्वेषकी बात लिखी सो ठीक ही है । राग-द्वेष सभी जगह मिलेगा । यह तो श्रीभगवान्‌ने कहा ही है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

'प्रत्येक इन्द्रियके प्रति अर्थमें राग-द्वेष है, हमें उनको अपना शत्रु समझकर उनके वश नहीं होना चाहिये ।' वास्तवमें राग-द्वेषादिका मूल कारण अपनी ही भूल है । हमारे मनसे राग-द्वेष निकल जायगा तो जगत्‌में हमें कहीं राग-द्वेषके दर्शन नहीं होंगे । ब्रह्मविद् सर्वत्र ब्रह्म ही देखता है । राग-द्वेष मायाका कार्य है । मायाकी ग्रन्थिसे छूटा हुआ पुरुष राग-द्वेषका दर्शन वस्तुतः नहीं पाता । वैसी स्थिति न होनेतक यथासाध्य रागद्वेषका प्रभाव अपने चित्तपर नहीं पड़ने देना चाहिये ।

तेरे भावें जो करौ भलो बुरो संसार ।
नारायण तू बैठकर अपनो भवन बुहार ॥

आपने लिखा कि मेरे लायक कोई शिक्षा लिखियेगा, सो ऐसा आपको नहीं लिखना चाहिये । मुझमें न तो शिक्षा देनेकी कोई योग्यता है और न अधिकार ही है । आपकी मुझपर सदासे कृपा रही है, उसी कृपाके भरोसे प्रार्थना या सलाहरूपमें आपको कुछ लिखनेकी धृष्टता—आपके पूछनेपर—कर बैठता हूँ । सो इसी आशापर कि आप मुझपर हर हालतमें प्रसन्न ही होंगे । अब आपके प्रश्नोंपर कुछ निवेदन करता हूँ ।

(१) अपनेको और भगवान्‌को यथार्थरूपसे जाननेके बाद ही यथार्थ प्रेम होता है, परन्तु यथार्थरूपसे जानना भी प्रेमके बिना सम्भव नहीं। इस ज्ञान और प्रेममें परस्पर साध्य-साधन-सम्बन्ध है। पहले कुछ ज्ञान होनेपर प्रेम होता है, प्रेम होनेपर यथार्थ ज्ञान होता है और यथार्थ ज्ञानके अनन्तरका जो परम प्रेम है वही सर्वोच्च प्रेम है। उसी प्रेमको भक्तोंने 'रसाद्वैत' कहा है। यहाँ प्रेमी और प्रेमास्पदकी एकता हो जाती है। परस्पर दोनों एक दूसरेमें घुल-मिल जाते हैं। दो मिलकर एक हो जाते हैं। इसीको 'परमशान्ति' कह सकते हैं। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भगवान्‌के गुणविशेषके प्रति आकृष्ट होकर प्रेम करना शान्तिका हेतु नहीं होता। निर्गुणके साधककी भी आरम्भमें गुण देखकर ही अर्थात् निर्गुणकी साधनासे ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति होगी ऐसा समझकर साधनामें प्रवृत्ति होती है। यथार्थ ज्ञान अपने आप नहीं हो जाता।

अभेदभक्ति किसके द्वारा होती है ?

(२) आपका दूसरा प्रश्न है—'भगवान्‌के साथ अभेदभक्ति ज्ञानवान्‌से हो सकती है या नहीं। यदि हो सकती है तो उससे उसको विशेष क्या लाभ होता है ?' इसका उत्तर यह है कि अभेदभक्ति ज्ञानवान्‌से ही हो सकती है, अज्ञानीसे नहीं। पहले यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि इस अवस्थामें 'भगवान्' और 'भक्ति' शब्दका अर्थ क्या है। ज्ञानवान् वही होता है जो मायाके बन्धनसे मुक्त हो चुका, जिसकी अज्ञानकी समस्त ग्रन्थियों

सदाके लिये टूट गयीं, जो माया-स्वप्नसे सर्वथा जग गया। परन्तु यह भी नहीं कि उसे पहलेके अज्ञानकी स्मृति हो और अब ज्ञानवान् होनेका भान हो। वास्तवमें 'ज्ञानवान्' शब्द अज्ञानियोंके लिये ही सार्थक होता है। ज्ञानवान् मुक्त पुरुषके लिये ज्ञान और अज्ञान दोनों ही शब्द निरर्थक हो जाते हैं। वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानका भोक्ता नहीं, इसीसे उसकी स्थिति अनिर्वचनीय होती है। वह सर्वत्र सबमें एकमात्र सम ब्रह्मको देखता है—'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति' 'समः सर्वेषु भूतेषु'—इस प्रकार ब्रह्मभूत होनेपर ही भगवान् कहते हैं कि उसे मेरी 'पराभक्ति' प्राप्त होती है। 'मद्भक्तिं लभते पराम्'। यह पराभक्ति ही अभेद-भक्ति है, जो ब्रह्मभूत हुए विना नहीं मिलती। इस पराभक्तिसे ही भगवान्का—समग्र भगवान्का यथार्थ ज्ञान होता है। 'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।' और यह तत्त्वज्ञान ही भगवान्के साथ—समग्ररूप भगवान्के साथ सर्वतोभावसे एकत्व कराता है। यहाँपर यही 'भगवान्' और 'भक्ति' शब्दका अर्थ है। इस भक्तिके बिना पूर्णरूपसे वास्तविक एकत्व नहीं होता। इसके अनन्तर ही होता है। इसीलिये भगवान् कहते हैं—'विशते तदनन्तरम्' यही विशेष लाभ है जो अवश्य प्राप्त करना चाहिये। अतएव अभेदभक्ति अवश्य प्राप्त करनी चाहिये। इस अभेदभक्तिको ही 'पराज्ञाननिष्ठा' कहते हैं। इसीको भक्त प्रेमाभक्ति या पराभक्ति कहते हैं। अवश्य ही बाह्यरूपमें देखनेपर दोनोंमें कुछ भेद प्रतीत होता है। परन्तु वस्तुतः है एक ही-सी स्थिति। यही असली ज्ञान है और इस ज्ञानको प्राप्त पुरुष ही यथार्थ 'तत्त्वज्ञ' या 'ज्ञानवान्' है।

ज्ञानवान्‌के सङ्कल्प-विकल्प

(३) आपका तीसरा प्रश्न है—'स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जानेके पश्चात् ज्ञानवान्‌की वृत्ति क्या काम करती है ? ज्ञानवान्‌को सङ्कल्प-विकल्प रोकनेकी आवश्यकता है या नहीं ? यदि है तो क्यों है ? यदि नहीं है तो सङ्कल्पसे और तज्जन्य न्याय्य या विपरीतादि कर्मसे उसका मोक्षमें प्रतिबन्धक है या नहीं ?'

इस प्रश्नके उत्तरमें सबसे पहला मेरा यह निवेदन है कि पहले ज्ञानवान्‌के स्वरूपको समझना चाहिये । यदि 'ज्ञानवान्' शब्दसे हम केवल 'शास्त्रज्ञानी' या 'परोक्षज्ञानी' लेते हैं, तब तो यह स्पष्ट ही है कि उसकी अविद्या-ग्रन्थि अभी खुली नहीं है । वह अहङ्कारवृत्तिके द्वारा सञ्चालित होता है, ऐसी अवस्थामें आत्माके विरुद्ध विजातीय सङ्कल्प-विकल्पोंको रोकनेका साधन करनेकी उसे नितान्त आवश्यकता है । यदि वह नहीं रोकेगा तो उसकी चित्तवृत्तियाँ सतत विषयाभिमुखी होकर उसके शास्त्रज्ञानकी कुछ भी परवा न करके उसे मोहके गहरे गर्तमें डाल देंगी । विषयासक्तिके प्रवाहमें उसको बहा देंगी । और यदि ज्ञानवान्‌का अर्थ यथार्थ ज्ञानी अथवा 'मुक्त पुरुष' है, तब वह वृत्तियोंका धर्मी या कर्ता रहता ही नहीं । वस्तुतः वह स्वयं उस अनिर्वचनीय अवस्थाको प्राप्त हो गया है जो चित्त तो क्या बुद्धिसे भी अति परे है । जहाँ चित्त ही नहीं वहाँ चित्तवृत्ति कहाँसे आती । और चित्तवृत्तिके अभावमें चित्तवृत्तियोंके कार्यका प्रश्न ही नहीं उठता । यह तो स्थिति है । अब यदि प्रारब्धवश जीवित रहे हुए शरीरमें स्थित चित्तवृत्तियोंकी बात कहें तो वहाँ यह कहना और मानना

पड़ता है कि पहले अन्तःकरणके शुद्ध और निष्काम हुए बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता और ज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर शरीरमें स्थित उस निष्काम और शुद्ध अन्तःकरणमें ऐसा कोई सङ्कल्प-विकल्प या तज्जन्य विपरीत कर्म होता ही नहीं जो दूषित हो या विपरीत हो और स्वाभाविक ही होनेवाले न्याय्य कर्मका भी कोई धर्मी या कर्ता न होनेसे फल उत्पन्न नहीं होता। प्रतिबन्धककी तो बात ही नहीं उठती; क्योंकि बाधा तो पथमें होती है। घर पहुँच जानेपर मार्गकी बाधाका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। अतएव मेरा तो यही निवेदन है कि ज्ञानवान् त्रृत्तिसे ऊपर उठा हुआ है, अतएव उसके लिये कोई प्रतिबन्धक नहीं है। ज्ञानवान् और मोक्षको प्राप्त एकार्थवाची ही हैं फिर प्रतिबन्धक कैसा ?

इस प्रकार आपके तीनों प्रश्नोंके उत्तरमें मैंने जो कुछ मनमें आया, लिख दिया है। मैं यह दावा नहीं करता कि मेरा मत सर्वथा अभ्रान्त है। न यह कहता हूँ कि यह मत मेरा है। सब शास्त्रोंकी बातें ही समझनी चाहिये। आग्रह छोड़कर इनका मनन करना चाहिये। एक ज्ञानवान् शब्दका अर्थ जान लेनेपर सब झगड़ा मिट जाता है। मैं ऐसी किसी स्थितिको नहीं मानता, जिसके लिये यह कहा जाय कि पूर्ण यथार्थ ज्ञान भी हो गया और मोक्ष बाकी भी रह गया ! और ऐसी स्थिति न माननेपर आपका तीसरा प्रश्न उठता ही नहीं। भूल-चूकके लिये क्षमा कीजियेगा। मैंने जो कुछ लिखा है, इसे प्रार्थनाके रूपमें समझियेगा, उपदेशके रूपमें नहीं। आपकी कृपा सदा रहती ही है। मेरे योग्य सेवा लिखते रहें।

प्रेम और ब्राह्मी स्थिति

········के बाद आपके कृपापत्रका उत्तर लिख रहा हूँ। आप स्वयं शास्त्रविद् और परम साधनसम्पन्न पुरुष हैं, मुझसे कुछ पूछकर तो केवल बड़ाई देते हैं। आपने अपनी लघुता और मेरी महत्ता बतलानेवाले शब्द पत्रमें लिखे हैं इससे आपकी आदर्श साधुता देखकर तो चित्तमें प्रसन्नता होती है और आपके चरणोंमें मस्तक झुक जाता है; परन्तु अपने लिये बहुत सङ्कोच मालूम होता है। शायद अपनी प्रशंसा सुननेमें अभी चित्तको पूरा सङ्कोच नहीं होता और छिपी हुई चाहके कारण कुछ आनन्द आता है, इसीसे तो अपनी तारीफके शब्द पढ़े-सुने जाते हैं। समतामें स्थित वीतराग महापुरुषोंकी बात अलग है, हम-जैसे लोगोंका हित तो प्रशंसाको गाली और निन्दाको प्रशंसाके समान समझनेमें ही है। आपके प्रश्नोंका उत्तर, समाधान करनेकी योग्यता समझकर नहीं, आपके आज्ञा पालनके लिये संक्षेपमें लिखता हूँ।

आप यह न समझें कि मैं जो कुछ लिखता हूँ, यही सोलहों आने यथार्थ है। इसमें जो कुछ त्रुटि हो, मुझे समझाकर लिखनेकी कृपा कीजियेगा। आपकी कृपासे कुछ समय सच्चिन्तनमें लग जाता है, इसके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ। आपकी कृपा सदा मुझपर रहती ही है।

१—मैंने जिस प्रेमकी बात लिखी थी उस 'प्रेम' की स्थितिमें और 'ब्राह्मी स्थिति' में कोई अन्तर नहीं है। तथापि साधनमें

अन्तर होनेके कारण विभिन्न अधिकारियोंके लिये दोनों अलग-अलग समझे जाते हैं। प्रेमी भी सुध-बुध भूलता है और ज्ञानी भी। परन्तु इस सुध-बुध भूलनेका अर्थ शारीरिक वाह्यज्ञानशून्य अवस्था नहीं है। यह वह स्थिति है जिसमें परमात्माको छोड़कर 'वाह्य' और कुछ रहता ही नहीं। इसी प्रकार प्रेम भी ज्ञानकी भाँति प्रेमास्पद या ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये ही आरम्भ किया जाता है। वह पहले अपने लिये होता है, फिर भगवान्के लिये होता है और अन्तमें अपने और भगवान्के भेदका अभाव हो जाता है। निरतिशय आनन्दस्वरूप भगवान्का कोई उद्देश्य नहीं है। प्रेमादि गुण स्वयं भगवान्का आश्रय लेकर भक्तोंको—प्रेमियोंको सुख देते हैं—'निर्गुणं मां गुणगणा भजन्ते निरपेक्षकम्।' प्रेमियोंके लिये भगवान् उन गुणोंपर कृपा करके इन्हें स्वीकार कर लेते हैं। प्रयोजन यही है कि प्रेमीगण अनन्ताचिन्त्यदिव्यगुणगणविशिष्ट सौन्दर्यमाधुर्यरसाम्बुधि भगवान्की प्रेम-सामग्रीसे पूजा करके अचिन्त्य गुणोंको प्राप्त करेंगे। परन्तु यह भी प्रेमियोंकी प्राथमिक पाठशालाका ही पाठ है। आगे चलकर न तो प्रेमियोंको कोई उद्देश्य दृष्टिगोचर होता है, और भगवान्में तो किसी प्रयोजनकी कल्पना ही भगवान्की दृष्टिसे नहीं हो सकती। वहाँ उपादेय और हेयकी तो कोई बात ही नहीं है। वहाँ तो प्रेम और आनन्द घुल-मिलकर एक हो जाते हैं। वहाँ राधा और कृष्णकी अलग-अलग पहचान नहीं रहती। दोनों एक हो जाते हैं—

राधा भईं कान्ह अरु कान्ह भये राधा रानी।
द्वै ह्वैकै फेरि दोनों एक ही लखात हैं॥

साधन-कालमें जैसे ज्ञानीको ध्यानावस्थामें बाह्य ज्ञान नहीं रहता, ऐसे ही प्रेमीको भी नहीं रहता। जैसे ज्ञानी निरन्तर ब्रह्माकारवृत्ति बनाये रखना चाहता है, ऐसे ही प्रेमी भी आठों पहर प्रेमास्पद भगवान्‌के आनन्दमय चिन्तनमें चित्तको लगाये रखना चाहता है। जैसे ज्ञानीका मनोवाञ्छित कुछ नहीं रहता, इसी प्रकार प्रेमीका भी मनोवाञ्छित प्रेमको छोड़कर और कुछ नहीं रहता। अधिकार या रुचिभेदसे साधनमें अन्तर है, वास्तविकतामें—साध्यके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि वह तो एक ही है।

अभेद भक्ति और ज्ञान

२—अभेद भक्तिका दूसरा नाम ज्ञान ही है, यही बात उस प्रश्नके उत्तरमें लिखी गयी है। गीतामें ऐसे ही ज्ञानीको भक्त कहकर श्रीभगवान्‌ने अपना आत्मा (स्वरूप) बतलाया है। अध्याय ७ श्लोक १६, १७, १८, १९ में देखिये।

मोक्षमें प्रतिबन्धक

३—यह प्रश्न आपका यदि पूर्ण ज्ञानीके सम्बन्धमें है तब तो यह कहना ही नहीं बनता कि उसके मोक्षमें कोई प्रतिबन्धक है या नहीं ? पूर्ण ज्ञानी तो मुक्त ही होता है। मुक्तकी फिर मुक्ति कैसी ? और उसके लिये प्रतिबन्धक कैसा। वह तो जिस समय ज्ञानी होता है, उसी समय उसके सञ्चित कर्मोंका नाश हो जाता है। क्रियमाणमें अहङ्कृति न रहनेसे उसका सञ्चित बनता नहीं। रह जाता है केवल प्रारब्ध, वह भोगसे क्षय हो जाता है। वस्तुतः इस प्रारब्धभोगका भी वहाँ कोई भोक्ता नहीं होता। भोग वहींतक है, जहाँतक पुरुष प्रकृतिस्थ है। 'स्वस्थ' होनेके बाद कोई भोक्ता रहता

नहीं। हाँ, लोगोंको दीखता है कि अमुक पुरुष अमुक सुख-दुःख भोग रहा है। लोगोंकी भाँति ही उसे भी 'द्रष्टा' मान सकते हैं। इसीलिये ज्ञानी सुख-दुःखमें सम होता है, क्योंकि वह द्रष्टा है, भोक्ता नहीं। अब रही ज्ञानवान्‌के द्वारा ज्ञानोत्तरकालमें प्रारब्ध-भोगके लिये शास्त्र-निषिद्ध कर्म होनेकी बात। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ज्ञानी गुणातीत होनेके कारण गुणोंके किसी भी व्यापारसे बँधता नहीं; वह हर अवस्थामें निर्लेप ही है परन्तु उसके शरीरद्वारा पाप बनना सम्भव नहीं। भगवान्‌ने गीताके तीसरे अध्यायमें पाप होनेमें कारण बतलाया है रजोगुणसमुद्भव 'काम' को। 'रजो रागात्मकं विद्धि'के अनुसार रजोगुणका रूप आसक्ति या राग है। ज्ञानीमें राग या आसक्ति और काम रहता नहीं, ऐसी अवस्थामें उससे पाप कैसे बन सकता है? पापके लिये चित्तकी कलुषित वृत्ति होनी चाहिये। उसकी कलुषित वृत्ति मुमुक्षु-अवस्थामें अन्तःकरणकी शुद्धिके समय ही नष्ट हो गयी। ऐसी अवस्थामें उसके द्वारा पापकी सम्भावना नहीं है। अनिच्छा और परेच्छासे तो पाप होता नहीं, 'स्वेच्छा' उसकी पापके लिये होती नहीं। इसके सिवा एक महत्त्वका विचार और है। वह यह है कि प्रारब्धसे पाप होना युक्तिसङ्गत भी नहीं है। जिस प्रारब्धसे पाप होना माना जा सकता है, वह प्रारब्ध अवश्य ही किसी पापकर्मका ही फल होना चाहिये और पापकर्मके फल-विधानमें पुनः पाप करनेका ही विधान हो, यह न्यायसङ्गत नहीं?

क—चोरी या खून करनेवालेको जेल या फाँसीका दण्ड मिलता है, पुनः चोरी करने या खूनका दण्ड नहीं मिल सकता। ख—यदि

पापका फल पुनः पाप ही हो तो जीव कभी पापसे मुक्त हो ही नहीं सकता। ग—यदि मनुष्य प्रारब्धवश पाप करनेके लिये वाध्य हो तो फिर शास्त्रोंके विधि-निषेधात्मक समस्त वचन व्यर्थ हो जायँगे। घ—जो ईश्वर पापका फल, पाप ही विधान करता है, वही फिर दण्ड-रचना करता है; ऐसा ईश्वर न्यायी नहीं कहा जा सकता। ङ-हरेक पाप करनेवाला मनुष्य कह सकता है कि मैं प्रारब्धवश वाध्य होकर पाप करता हूँ। इसमें मेरा क्या दोष है ? च—भगवान्‌के वचन 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' व्यर्थ हो जाते हैं इत्यादि अनेकों युक्तियोंसे यही बात साबित होती है कि ज्ञानोत्तरकालमें जान-बूझकर स्वेच्छा, परेच्छा या अनिच्छा किसी भी रूपसे पापकर्म नहीं हो सकता। मोक्षमें प्रतिबन्धका तो कोई प्रश्न ही नहीं है। ज्ञानियोंमें दूषित प्रारब्ध रह सकता है और उसका फल शारीरिक पीड़ा, अपमानादि हो सकता है; परन्तु निषिद्ध कर्मके द्वारा उक्त फल नहीं मिल सकता। यद्यपि ज्ञानी विधि निषेधसे ऊपर उठा हुआ है परन्तु जिस अन्तःकरणमें कर्मप्रेरणा होती है, वह अन्तःकरण अत्यन्त विशुद्ध हो जानेके कारण उसमें असत्-सङ्कल्प नहीं हो सकते। न उससे असत् कर्म ही बन सकते हैं।

भगवान् स्वार्थी हैं

४—यह प्रश्न महात्माजीने विनोदके रूपमें किया है-मालूम होता है। विनोदकी भाषामें यही उत्तर है कि भगवान् पूरे स्वार्थी, खुशामद-पसन्द और पक्के चोर हैं तथा न्यायी भी नहीं हैं; तभी तो वे सर्वस्व लेकर तब कुछ देते हैं! खुशामद करनेवालोंका पक्ष लेते हैं, 'दासोऽहं' का 'दा' चुरा लेते हैं, भक्तोंका चित्त चुरा लेते हैं।

स्वयं चोर होते हुए भी चोरके लिये दण्डका विधान करते हैं, परन्तु उनके भक्त भी ऐसे बावले हैं कि इन्हीं दुर्गुणोंपर रीझकर उनको भजते हैं और हर तरहसे उनके गुण गाते हुए भाटकी-ज्यों इधर-उधर भटकते हैं। भला ऐसे बावले भक्तोंको स्वार्थी भगवान्‌के द्वारा मुक्ति कहाँसे मिलती ? वे सेवा करते नहीं थकते और भगवान् तो सेवा करानेके लिये ही यह जाल फैलाये बैठे रहते हैं। पक्के स्वार्थी हैं न ?

भगवान्‌का निःस्वार्थ भाव

अब दूसरे प्रकारसे इसका उत्तर यह है कि वस्तुतः भगवान् सर्वगुणातीत केवल निरतिशय विज्ञानानन्दघन हैं। उन सर्वगुणातीतके गुणोंकी कथा कौन कहे ? तथा उन सर्वविरुद्धधर्माश्रयी भगवान्‌में एक ही कालमें निर्गुणत्व-सगुणत्व सभी कुछ सम्भव है। वे गुणातीत हैं, निखिल कल्याणगुणगणविशिष्ट हैं और हेयोपादेयसर्वगुण-सम्पन्न हैं। उनके लिये सब कुछ कहा जा सकता है और किसी भी व्याख्यासे उनका यथार्थ वर्णन नहीं हो सकता। भक्त उन्हें दयालु, कृपामय, करुणासागर, भक्तवत्सल, अकिंचनके आश्रय, अनाथनाथ आदि शब्दोंसे ठीक ही पुकारते हैं, वे ऐसे ही हैं, उनमें एक-एक गुण इतना अनन्त असीम और महान् है कि उस एककी ही महिमा गाते-गाते शेष-शारदाकी शक्ति कुण्ठित हो जाती है। भूल तो इस बातमें होती है कि लोग धन, पुत्र, यश, सम्मान-की प्राप्तिमें तो उनकी कृपा, दया, वत्सलता आदि मानते हैं और इसके विपरीत होनेमें अकृपा या निष्ठुरता ! भगवान् उस स्नेहमयी जननीकी भाँति हैं, जो मारनेके समय भी अपने स्नेहार्द्र हृदयको नहीं

सुखा सकती । लौकिक माका स्नेह-स्रोत कहीं सूख भी जाय, परन्तु उस सच्चिदानन्दमयी, स्नेहाम्बुधिहृदया माताका स्नेह तो कभी सूख ही नहीं सकता । उसकी मारमें भी विलक्षण प्यार भरा रहता है। भगवान्‌के दण्ड-विधानका स्वरूप तो देखिये—वे या तो विषयोंको हरते हैं या विषयसेवनकी क्षमताको । जिन विषयोंकी सन्निधि तो दूरकी बात है, चिन्तनामात्र सर्वनाशका कारण होती है, जिन विषयोंको विषवत् परित्याग करनेकी अनुभवी महापुरुष और शास्त्रकार आज्ञा करते हैं, उन विषयोंसे सहज ही छुटकारा हो जाय और समझा जाय वह दण्डविधान ! उससे छूट जाय पूर्वकृत पापका बन्धन ! भला, यह कम दया है ? आगमें पड़नेको जानेवाले पतंगेके मार्गमें चादर तान देनेवाला या आग बुझा देनेवाला पुरुष दयालु कहा जायगा या निर्दयी ? इसी प्रकार भगवान् रोगीकी अवस्थाके अनुसार ओषधिकी व्यवस्था करके हर हालतमें उसपर कृपा ही करते हैं । भगवान्‌में जितने गुणोंका आरोप है, वे सभी सार्थक हैं । जिन्हें दुःखोंका दान मिलता है, उनका शीघ्र निस्तार होता है । वे अनाथोंका ही उद्धार करते हैं, नाथोंका नहीं । पतितोंको ही तारते हैं, पुण्याभिमानियोंको नहीं । अशरणको ही शरण देते हैं, आश्रयवान्‌को नहीं । उनके समस्त अवतार ही निःस्वार्थताके ज्वलन्त उदाहरण हैं । निःस्वार्थपनका पाठ तो भगवान्‌से ही सीखना है ।

'भोगप्रेम' और 'भगवत्प्रेम'

५—भावुक सज्जनके प्रश्नका उत्तर यह है कि सम्पूर्णतया निष्कामभाव हो जाय तो सम्भव है कि वे सारी बातें हो जायँ ।

राजा जनकमें यह सभी कुछ थे । वे प्रपञ्चमें थे, भोग भी भोगते थे, भोगोंका वियोग उनके साधन-कालमें भी नहीं था, यश-कीर्ति भी पर्याप्त थी, ज्ञानी तो प्रसिद्ध थे ही, परन्तु वे निष्कामभावकी मूर्ति थे ।

दूसरा उपाय है भगवान्‌की शरणागति । सुदामाको भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त हुए थे । परन्तु ये दोनों ही बातें होती हैं—अत्यन्त कठिन । इनके हो जानेपर तो भोगोंका महत्त्व ही मिट जायगा और जबतक ये होतीं नहीं तबतक उपर्युक्त स्थिति होनी कठिन है । शास्त्रकार तो यही कहते हैं कि 'भोगप्रेम' के साथ 'भगवत्प्रेम' रह ही नहीं सकता । ऐसे प्रश्न करनेवालोंको वस्तुतः भगवान्‌के महत्त्वका पता नहीं है, तथापि ये भी सराहनीय हैं जो किसी भी रूपमें भगवान्‌को चाहते तो हैं ! इनसे कह दीजिये ये यथासाध्य अधिक-से-अधिक श्रीभगवान्‌का नामजप करें, नामजप सब रोगोंकी एकमात्र दवा है ।

---

(३४)

चित्त शान्त कैसे हो ?

आपका कृपापत्र मिले बहुत दिन हो गये । स्वभावदोषसे उत्तर लिखनेमें देर हुई, इसके लिये क्षमा करें । आपके चित्तकी स्थितिका हाल जानकर कोई आश्चर्य नहीं हुआ । धन होनेसे चित्तमें शान्ति नहीं होती । जब धन नहीं होता तब मनुष्य समझता है कि मैं धनी हो जाऊँगा, तब सुखी हो जाऊँगा ! परन्तु ज्यों-ज्यों धन बढ़ता है, त्यों-त्यों अभाव बढ़ते हैं । अभावोंकी पूर्तिके लिये चित्त अशान्त रहता है, और 'अशान्तस्य कुतः सुखम्' (गीता २ । ६६) अशान्तको सुख कहाँ ? आपके घरमें धन-पुत्रकी प्रचुरता, मनमाने

भोग आपको सहज ही प्राप्त हैं, परन्तु अशान्तिकी आग तो और भी जोरसे धधकती है। आपके पत्रको पढ़कर शास्त्रकारोंके ये वाक्य प्रमाणित हो गये कि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तदित्यतितृषां त्यजेत्॥

'भोगके द्वारा कामनाकी निवृत्ति नहीं होती, जैसे अग्निमें घी या ईंधन पड़नेपर वह और भी जोरसे जलती है, इसी प्रकार भोगरूपी ईंधनसे कामाग्नि और भी अधिक प्रज्वलित होती है। पृथ्वीमें जितना धान्य, यव, सुवर्ण, पशु, स्त्री आदि विषय हैं, सब-का-सब एक आदमीको मिल जाय तब भी उसकी प्यास नहीं बुझती।' अतएव इस प्यासको ही मिटाना चाहिये। बुढ़ापेमें सब कुछ जीर्ण हो जाता है, परन्तु एक यह तृष्णा जीर्ण नहीं होती। 'तृष्णैका न जीर्यते।' इस कामाग्निमें तो वैराग्यरूपी जलधारा ही छोड़नी चाहिये। आपके चित्तकी अशान्ति मिटनेका सहज उपाय मेरी समझसे यह है कि घर-धनसे ममता छोड़कर भगवान्‌को अपना मानिये और यथासाध्य उनके नामका प्रीतिपूर्वक जप कीजिये। आपका वश चलता हो तो धनको गरीबोंकी सेवामें लगाइये। जो भूखोंको अन्न देता है, रोते हुओंकी सेवा करके उनके आँसू पोंछता है, रोगीके लिये दवा, पथ्य और सेवाकी व्यवस्था करता है, स्वयं सेवा-शुश्रूषा करता है, अभावग्रस्तोंके अभावको धनके द्वारा मिटाता है, ऊपरसे अच्छे बने हुए इज्जतदार गरीबोंकी गुप्त सेवा करता है—उसीका धन सार्थक है।

इस सेवामें भी यह भाव रखना चाहिये कि मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ। भगवान्की चीज़ भगवान्के काममें लग रही है। भगवान्की बड़ी कृपा है जो उन्होंने इसमें मुझको निमित्त बनाया। किसीको कुछ देकर कभी अभिमान, अहसान या शासन नहीं करना चाहिये। मेरी तुच्छ सम्मतिके अनुसार आप यह साधन कीजिये। आपकी सब बातोंका प्रतीकार इसमें हो जायगा।

१. धन-पुत्रादि विषयोंमें बार-बार दुःख-दोषदृष्टि, इनकी अनित्यता और क्षणभङ्गुरताका विचार। इनमें ममत्व अज्ञानवश आरोपित है, वास्तवमें ये मेरे नहीं हैं, ऐसा बार-बार विचार।

२. शरीर मैं नहीं हूँ। इस शरीरके बननेके पहले भी मैं था, इसके नाशके बाद भी रहूँगा, नाम कल्पित है, मैं इनका द्रष्टा हूँ। इनके मान-अपमानसे मेरा मानापमान नहीं होता, और इनके नाशसे मेरा नाश नहीं होता, ऐसा विचार।

३. प्रतिदिन गायत्रीकी २१ मालाका जाप।

४. प्रतिदिन रातको एकान्तमें भगवत्प्रार्थना। प्रार्थना अपने शब्दोंमें हृदय खोलकर करनी चाहिये। चाहे हो वह मानसिक ही।

५. सप्ताहमें एक दिन मौन और एकान्तमें रहकर भगवान्का ध्यान करनेकी चेष्टा करना। और सप्ताहभरकी अपनी दशापर विचार करके अगले सप्ताह और भी दृढ़ताके साथ साधनमार्गमें अग्रसर होनेका संकल्प करना।

६. जिनसे मनोमालिन्य हो, उनसे सच्चे हृदयसे क्षमा माँग लेना और इसमें अपना अपमान न समझना।

७. धन और पदके मानका यथासाध्य विचारपूर्वक त्याग करना ।
८. सर्वदा सबमें भगवान्‌को देखनेकी चेष्टा करना । जिससे बोलनेका काम पड़े, उसमें पहले भगवान्‌के स्वरूपकी भावना करके उस भावनाको याद रखते हुए ही व्यवहार करना ।
९. सरकारी अफसरोंसे मिलना-जुलना कम कर देना ।
१०. अधिक मसालेकी चीज और मिठाई न खाना ।
११. चापलूस, खुशामदी और अपनी झूठी बड़ाई करनेवालोंसे सम्बन्ध त्याग देना ।
१२. रोज उपनिषद्, महाभारत शान्तिपर्व, रामचरितमानस पढ़ना । श्रीमद्भगवद्गीता सर्वोत्तम है ।
१३. घरमें अपनेको दो दिनके अतिथिकी तरह समझना, मालिकी-के अभिमानका त्याग ।
१४. ताश, शतरंज न खेलना ।
१५. कभी किसीसे कठोर वचन न कहना ।

---

(३५)

अपने दोषोंपर विचार करो

पत्र मिला । आपने अपने दुःखके जो कारण लिखे वे तो बाहरी हैं । असली कारण तो आपका अपना उच्छृङ्खल मन ही है । जो मनुष्य दूसरोंके प्रति मनमें बुरे भावोंका पोषण करता है, उसको दूसरोंसे बुरे भाव, प्रतिहिंसा, वैर आदि मिलनेका भय लगा ही रहता है । वह आप ही अपने लिये दुःखोंको बुलाता है । इतना ही नहीं, वह जगत्‌में भी दुःख ही फैलाता है । जिसके अंदर जैसे विचार

या भाव होते हैं, उसके वचनोंसे, आकृतिसे, भावभंगीसे वही विचार प्रतिक्षण बाहर निकलते रहते हैं। उसके रोम-रोमसे स्वाभाविक ही वैसे ही परमाणु प्रकट हो-होकर दूर-दूरतक फैलते हैं और न्यूनाधिक-रूपमें सबपर अपना प्रभाव डालते हैं। सजातीय विचारवालोंपर अधिक और विजातीय विचारवालोंपर कम। जैसे प्लेग, चेचक और हैजे आदि रोगोंके कीटाणु सर्वत्र फैलकर रोग फैला देते हैं वैसे ही मनुष्यके अंदर रहनेवाले घृणा, द्वेष, भय, वैर, शोक, विषाद, चिन्ता, क्रोध, काम, लोभ, डाह आदि मानसिक रोगोंके परमाणु भी सर्वत्र फैलकर लोगोंको रोगी बनाते हैं। आपके घरमें जो कलह है, इसमें केवल दूसरे पक्षका ही दोष हो, ऐसी बात नहीं माननी चाहिये, और वस्तुतः ऐसा है भी नहीं, उसमें आपका भी दोष है और वही कलह फैलाकर आपको और घरके दूसरे लोगोंको दुखी बना रहा है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

> आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
> बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
> अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥
> (६। ५-६)

'आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है। जिसके द्वारा मन, वाणी आदि जीते हुए हैं, वह तो आप ही अपना मित्र है और जिसके द्वारा नहीं जीते हुए हैं, उसने आप ही अपने साथ शत्रुकी तरह वैर ठान रक्खा है।'

जैसा अभ्यास होता है, मन वैसा ही बन जाता है। दोषदर्शन-का अभ्यास हो जानेपर बिना ही हुए लोगोंमें दोष दीखने लगते हैं, इसलिये यह तो कठिन है कि इस पत्रके पढ़ते ही आपको दूसरोंके

दोष दीखने बंद हो जायँ। ऐसा हो जाय तो बड़े ही आनन्दकी बात है, परन्तु आशा कम है। अतएव आप शान्ति और धीरजके साथ अपने दोषोंको भी खोजने और देखनेका प्रयत्न कीजिये। जहाँ अपने दोष दीखने लगेंगे, वहीं दूसरोंके दोष दीखने कम होने लगेंगे। फिर आगे चलकर यह दशा हो जायगी—

बुरा जो देखन मैं गया बुरा न दीखा कोय।
जो तन देखा आपना मुझ-सा बुरा न कोय॥

और जब दूसरोंके दोषकी बात याद ही न रहेगी और सब तरहसे अपने ही दोष—अपराध प्रत्यक्ष सामने रहेंगे, तब तो स्वाभाविक ही अपने दोषोंके लिये पश्चात्ताप होगा और नम्रतापूर्वक सबसे क्षमा चाहनेकी प्रवृत्ति बलवती हो उठेगी। श्रीचैतन्य महाप्रभुसे दया पाये हुए जगाई-मधाईका अन्तिम जीवन रो-रोकर सबसे क्षमा चाहनेमें ही बीता था। वे पश्चात्ताप और करुणाकी मूर्ति ही बन गये थे।

आपसे प्रेम है और आप मेरे कहनेको बुरा न मानकर उसे अच्छी दृष्टिसे देखेंगे तथा विचार करेंगे, यही समझकर आपको इतना लिखनेका साहस किया गया है।

---

(३६)

दुःखोंसे छूटनेके उपाय

आपका कृपापत्र मिला था। उत्तर लिखनेमें देर हो गयी, इसके लिये क्षमा कीजियेगा। आपने पत्रमें अपनी आर्थिक, शारीरिक और मानसिक स्थितिके बारेमें लिखा सो सब पढ़ा। आर्थिक स्थिति अच्छी न रहनेके कारण चित्तमें अशान्ति होना स्वाभाविक है। आजकलकी दुनियामें अर्थके बिना कोई काम नहीं सधता, रात-

बातमें अर्थकी जरूरत होती है। ऐसी हालतमें अर्थका अभाव क्लेशदायक होगा ही। परन्तु प्रारब्धके विधानके सामने आप क्या कर सकते हैं। यथासाध्य उपाय करना चाहिये सो आप कर ही रहे हैं। उद्योग करनेपर फल नहीं होता, तब सिवा सन्तोषके सुखका और कोई साधन नहीं है। ऋणकी बात भी जरूर बहुत सङ्कट देनेवाली है। इसके उतारनेके लिये यथासाध्य आप उद्योग करते ही हैं। ऋण होनेपर अनाप-शनाप खर्च लगाना या धन होनेपर भी न देनेका भाव नहीं होना चाहिये। और साधारण खर्चके बाद यदि कुछ बचे तो उसे ऋणदाताओंको देना चाहिये। परन्तु एक बात स्मरण रखनी चाहिये, यदि साधन करनेपर भगवत्कृपासे भगवत्प्राप्ति हो गयी तो इसी ऋणसे नहीं---समस्त ऋणोंसे जीवको मुक्ति मिल जाती है। अतएव यह कभी नहीं विचारना चाहिये कि पूरा ऋण उतर जानेपर और स्त्री-पुत्रोंके भरण-पोषणके लिये कुछ संग्रह हो जानेपर या अच्छी कमायी होने लगनेपर ही भजन किया जायगा। प्रथम तो यह निश्चय नहीं कि तीनों बातें पूरी होंगी ही। दूसरे यह भी पता नहीं कि यदि ये पूरी हो भी गयीं तो फिर उस समय भजन करनेका मन रहेगा या नहीं। यह याद रखना चाहिये कि एक-एक अभावकी पूर्ति पचासों नये-नये अभावोंको उत्पन्न करनेवाली होती है। मन रहा भी और शरीर पहले छूट गया तो अपनेको क्या लाभ हुआ ? अतएव भजन तो हरहालतमें करना ही चाहिये, साथ ही ऋण चुकाने तथा आजीविकाका साधन संग्रह करनेके लिये चेष्टा भी करते रहना चाहिये। भजनके साथ-साथ ऋण चुक गया तब तो दोनों काम हो गये, नहीं तो, भजन हुआ।

भजनके प्रतापसे इसी जन्ममें भगवत्प्राप्ति हो गयी तब तो सारा बखेड़ा ही तै हो गया; ऐसा न हुआ तब भी जितना भजन हुआ उतना तो आपके कल्याणका मार्ग प्रशस्त हुआ ही। जितना रास्ता कटा उतना ही अच्छा। एक बात और ध्यानमें रखिये। जिन लोगोंके पास काफी धन है, ऋणकी तो कोई बात ही नहीं, भोगके लिये प्रचुर सामग्री मौजूद है, उनके चित्तमें भी अशान्ति बनी रहती है। शान्ति धनके होने न होनेसे सम्बन्ध नहीं रखती। शान्तिका सम्बन्ध चित्तकी वृत्तियोंसे है। जिसके मनमें कामना, आसक्ति, ममता और अहङ्कार है, वह चाहे जितना धनी क्यों न हो, कभी शान्ति नहीं पा सकता। वह सदा जला ही करता है। इसके विपरीत जो बिल्कुल निर्धन है, परन्तु भगवान्में विश्वासी है, भगवान्का भजन करता है और भगवान्के प्रत्येक विधानमें मङ्गलमय भगवान्का हाथ देखकर अपना मङ्गल देखता है, वह महान्-से-महान् दुःखकी हालतमें भी शान्त और सुखी रहता है। बलि राजाका राज्य हरण कर लेनेपर भगवान्से प्रह्लादने कहा था—'भगवन्! आपने बड़ी दया की।' अतएव आपको विचार करके आर्थिक स्थितिके कारण चित्तमें दुःख नहीं करना चाहिये। भगवान्का विधान मानकर सन्तुष्ट रहना चाहिये। और जहाँतक हो सके उपार्जनकी शुद्ध चेष्टा करते हुए कम खर्चमें काम चलाना चाहिये। सब दुःखोंके नाशके लिये एकमात्र उपाय बतलाता हूँ। मनमें यह निश्चय करके कि 'भगवन्! मैं एकमात्र आपके ही शरण हूँ। आप ही मुझे दुःखोंसे बचावेंगे यह मुझको निश्चय है।' चलते-फिरते उठते-बैठते मन-ही-मन सदा 'हरिः शरणम्' मन्त्रका जप करते रहिये। यदि विश्वास और श्रद्धापूर्वक

इसका जप किया जाय तो सारे सङ्कट टल सकते हैं। इसके सिवा भागवतके आठवें स्कन्धके तीसरे अध्यायका रोज सबेरे आर्तभावसे पाठ कीजिये। इससे भी बहुत लाभ हो सकता है।

भगवान्‌की सुन्दर तसबीर सामने रखकर एक-एक अङ्गके ध्यानका अभ्यास कीजिये तथा श्वासके साथ भगवान्‌के नामका जप करनेकी आदत डालिये। श्वासके आने-जानेमें जो शब्द होता है, उसपर लक्ष्य कीजिये। जरा जोरसे श्वास लीजिये तो आवाज स्पष्ट सुनायी देगी। उस आवाजमें ऐसी भावना कीजिये कि यह 'राम राम' बोल रहा है। ऐसा करनेसे मन कुछ वशमें होगा। शरीर, भोग सब क्षणभङ्गुर, विनाशी तथा दुःखरूप हैं—ऐसी भावना करके मानसिक पापोंको हटाइये। मानसिक पापोंके नाशके लिये आर्तभावसे भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये। शारीरिक रोगनाशके लिये यथासाध्य ब्रह्मचर्यका पालन, खान-पानमें संयम रखते हुए साधारण आयुर्वैदिक दवा लेनी चाहिये। पेटकी वायुके नाशके लिये भोजनके पहले ग्रासके साथ चार आनेभर हिंग्वाष्टक चूर्ण घीमें मिलाकर लेना चाहिये। भोजनके बाद लवणभास्कर चूर्ण ठंडे जलके साथ लेना चाहिये। और धातुक्षीणताके लिये आठ आनेभर आँवलेके चूर्णकी फक्की रातको सोते समय जलके साथ लेनी चाहिये। रोज तीन-चार मील घूमना चाहिये।

इस प्रकार श्रद्धापूर्वक साधन करनेसे भगवत्कृपासे आपकी शारीरिक, मानसिक और आर्थिक स्थितिमें बहुत कुछ उत्तम परिवर्तन हो सकता है।

(३७)

शोकनाशके उपाय

प्रिय बहिन,

सस्नेह हरिस्मरण। भाई श्री·······जी परसों यहाँ आये थे, उनसे आपके बहनोई साहबके देहान्तका समाचार मालूम हुआ। उन्होंने यह भी बतलाया कि इस दुर्घटनासे आपको बहुत ही दुःख हो रहा है। वास्तवमें दुःख होना स्वाभाविक ही है। फिर आपका हृदय तो बहुत ही कोमल, सरल और सहानुभूतिपूर्ण है; इसलिये आपको दुःख हुए बिना रह नहीं सकता। ऐसी घटनासे दूसरोंको भी दुःख होता है, फिर आप तो सगी बहिन हैं। इतना होनेपर भी आप समझदार हैं, आपने सत्सङ्ग किया है और श्रीभगवान्‌का भजन करती हैं, इसलिये आपके द्वारा तो घरवालोंको सान्त्वना और धीरज मिलनी चाहिये।

आप जानती हैं, यहाँका सब कुछ विनाशी है। कोई चीज स्थिर नहीं है। जैसे एक सरायमें बहुत-से मुसाफिर आकर टिकते हैं और अपनी-अपनी गाड़ीका समय हो जानेपर चले जाते हैं, वैसे ही यह संसार मुसाफिरखाना है। अपने-अपने कर्मभोगोंके लिये जीव यहाँ आते हैं और भोग पूरा होनेपर चले जाते हैं। यहाँका कोई भी सम्बन्ध नित्य नहीं है। इसलिये आपको स्वयं शोक न करके घरवालोंको भी समझाना चाहिये। दूसरी बात यह है कि मृत्यु ऐसी चीज है, जिसपर किसीका वश नहीं है। विषाद या शोक करनेसे जरा भी लाभ नहीं होता। जिस जीवका देहसे सम्बन्ध छूट गया, वह फिर उस देहसे कभी मिल नहीं सकता। शोकसे रोगादि बढ़ते हैं, चित्तमें तामसिक भाव आते हैं और मरकर

गये हुए जीवको भी—यदि वह पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं हो गया है तो—हमारा शोक देखकर बड़ी तकलीफ होती है। उनसे हमारा सच्चा स्नेह है तो हमें उनके लिये नाम-जप, गीता-पाठ, दान आदि करके उनके अर्पण करने चाहिये, जिससे उनको शान्ति मिले। व्यावहारिक सम्बन्धको लेकर यही कर्तव्य होता है।

परमार्थ-दृष्टिसे तो आत्मा अमर है। शरीरका वियोग होता ही है। हमलोगोंको जो शोक होता है, सो ममत्वके कारण होता है। विचार करनेपर पता लगता है, यह ममत्व मोहसे ही उत्पन्न है। असलमें इसमें सार नहीं है।

इससे पिछले जन्ममें भी हम कहीं थे। वहाँ भी हमारा घर-बार था, बाल-बच्चे थे, सम्बन्धी थे। परन्तु आज उनकी हमें न तो याद है, न उनके लिये कभी मनमें यह चिन्ता ही होती है कि वे किस दशामें हैं। यह भी मनमें नहीं आती कि उनका कहीं पता तो लगावें, वे कौन थे। हम उन्हें बिलकुल भूल गये। हमारा नाता उनसे सर्वथा टूट गया। यही दशा मरनेपर यहाँ होगी। यहाँका सम्बन्ध बस, शरीरको लेकर ही है। इसलिये शोक नहीं करना चाहिये।

ऐसी घटनाओंको देखकर तो संसारकी क्षणभङ्गुरताका खयाल करके वैराग्य होना चाहिये। यही दशा सबकी होगी। यहाँ एक भगवान्‌को छोड़कर सभी चीजें अनित्य हैं। जो वस्तु अनित्य होती है, वह दुःख देनेवाली होती है। आज एक चीजको हम अपनी समझते हैं, उसके बिना हमारा काम नहीं चलता। परन्तु एक दिन उससे हमारा सम्बन्ध छूटेगा ही। या तो हम पहले उसको छोड़कर चले जायँगे, या वही हमसे बिछुड़ जायगी। जिस चीजके

पाने और रहनेमें सुख होता है, उसके जाने और बिछुड़नेमें दुःख होता ही है। और यहाँ कोई भी चीज ऐसी है नहीं, जो सदा रहे, साथ आवे और साथ जाय। इसलिये भी शोक नहीं करना चाहिये।

यहाँ जो कुछ भी है, भगवान्‌की लीला है। लीलामें अच्छी, बुरी सभी बातें होती हैं। भगवान् मङ्गलमय हैं, उनकी लीला भी मङ्गलमयी है। पता नहीं जिनके बिछुड़ जानेसे आज हमें बड़ा भारी सन्ताप हो रहा है; वे भगवान्‌के विधानसे किसी अच्छी गतिको प्राप्त हुए हों, और वहाँ वे बहुत ही सुखसे हों। मनुष्यको भगवान्‌के विधानमें सन्तोष करना चाहिये।

आप समझदार हैं, भजन करती हैं। ऐसे ही समयमें धीरज रखना आवश्यक है। भजनका फल होता है शोकका नाश। आपको स्वयं तो शोक करना ही नहीं चाहिये। सच्ची सहानुभूति, प्रेम तथा विवेकके साथ बहिनजीको भी धीरज बँधानी चाहिये। और चेष्टा करके उन्हें भगवान्‌की ओर लगाना चाहिये, जिसमें उनका दुःख कम हो और उन्हें शान्ति मिले। दुःखकी स्थितिमें विचार, विवेक और धीरजसे काम लेना चाहिये और श्रीभगवान्‌के विधानपर सन्तोष करना चाहिये। जो चीज गयी, वह तो मिलेगी नहीं। जो है, उसे सँभालना है, उसकी सेवा करनी है। यदि आपलोग दुःख ही करती रहेंगी तो उनकी सँभाल और सेवा कैसे होगी! इसलिये विचारपूर्वक धीरज रखनी चाहिये तथा बहिनजीको श्रीभगवान्‌के भजनमें लगाना चाहिये। श्रीभगवान् ही सबके एकमात्र स्वामी हैं। मीरादेवीने उन्हींको पतिरूपमें वरण किया था। जिनके पति नहीं हैं, उन देवियोंके तो भगवान् ही पति हैं, जो पतिके भी पति हैं,

सारे ब्रह्माण्डके पति हैं, उन्हींको अपना चित्त अर्पण करके दिन-रात उन्हींके भजनमें लगाने चाहिये। तभी शान्ति मिल सकेगी।

आप बहुत अच्छे स्वभावकी तथा समझदार हैं, इसीसे आपको इतना लिखा है। भगवान्‌को न भूलियेगा, यही अनुरोध है।

(३८)

श्रीमद्भागवत-सम्बन्धी कुछ शङ्काएँ

सादर हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपने श्रीमद्भागवतके विषयमें कुछ शङ्काएँ की हैं। उनके विषयमें मेरा जैसा विचार है, लिखता हूँ। इससे यदि आपको कुछ सन्तोष हो जाय तो बड़ी प्रसन्नताकी बात है—

स्कन्ध २

१—आप लिखते हैं कि यहाँ श्रीकृष्ण-लीलाका वर्णन हो ही गया है। इसलिये यह असम्भव है कि उसके विषयमें परीक्षित्‌ने फिर पूछा हो। किन्तु मेरे विचारसे यह कोई गम्भीर कारण नहीं है। जो भगवल्लीलाओंके रसिक हैं वे तो उन्हें बार-बार सुनकर भी नहीं अघाते और निरन्तर उन्हें ही सुनना चाहते हैं। उनकी दृष्टिमें पुनरुक्ति और पिष्टपेषण कभी आते ही नहीं हैं। यहाँ तो श्रीकृष्ण-लीलाओंका उल्लेखमात्र है। क्या किसी भगवल्लीलाओंके रसिकके लिये इतना ही पर्याप्त होता है? इसके सिवा यह शङ्का केवल कृष्ण-लीलाओंके लिये ही क्यों हुई? इस अध्यायमें तो भगवान्‌के सभी अवतारोंकी लीलाओंका उल्लेख हुआ है, अतः आपके सिद्धान्तानुसार तो पीछे किसी भी भगवदवतारके चरित्रका चित्रण नहीं होना चाहिये

था और यदि अवतारचरित्रोंको भागवतमेंसे निकाल दिया जाय तो फिर उसमें रहता ही क्या है ? असली बात तो यह है कि हमारे पूर्वाचार्योंकी यह शैली ही रही है कि पहले वे संक्षेपमें सारा वर्णनीय विषय कह देते हैं और फिर सारे ग्रन्थमें उसीका विस्तार करते हैं। वाल्मीकीय रामायणके प्रथम अध्यायमें ही सारा रामचरित कह दिया गया है, जिसे मूलरामायण कहते हैं। महाभारतके प्रथम अध्यायमें भी संक्षेपमें महाभारतकी सारी गाथा कह दी है तथा अन्य अनेकों ग्रन्थोंमें भी प्रायः इसी नियमका पालन किया गया है। अर्वाचीन आचार्योंमें भगवान् शङ्कराचार्यने जो केनोपनिषद्पर भाष्य लिखा है, उसकी तो शैली ही यह है कि पहले एक वाक्यमें अपना सिद्धान्त कह देते हैं और फिर उसीका आगे विस्तार करते हैं; अतः संक्षेप और विस्तारसे ग्रन्थको ग्रथित करना—यही भारतीय आचार्योंकी शैली है।

आप कहते हैं इस अध्यायमें भगवान्की रासलीलाका उल्लेख नहीं है; अतः वह प्रक्षिप्त होनी चाहिये, सो कृपा करके इसका ३३ वाँ श्लोक देखें—

क्रीडन् वने निशि निशाकररश्मिगौर्यां
रासोन्मुखः कलपदायतमूर्च्छितेन।
उद्दीपितस्मररुजां व्रजभृद्वधूनां
हर्तुर्हरिष्यति शिरो धनदानुगस्य॥
(२।७।३३)

रास तो रसराज श्यामसुन्दरकी लीलाओंका प्राण है, उसके बिना तो वे निष्प्राण हो जाती हैं।

स्कन्ध ३

२—नियोग-प्रथा पहले थी, किन्तु वह आपद्धर्मके रूपमें थी और जो असाधारण संयमी पुरुष होते थे वे ही इसके लिये नियुक्त किये जाते थे। यह होनेपर भी वर्तमान कालमें इसका समर्थन नहीं किया जा सकता, क्योंकि अब लोगोंमें इतना संयम नहीं है कि केवल पुत्रोत्पत्तिके लिये ही अनासक्त भावसे एक बार सहवास करके फिर उस देवीके साथ जीवनभर पूर्णतया शुद्ध भाव रख सकें। शास्त्रानुसार भी कलियुगमें यह निषिद्ध है।

स्कन्ध ६

३—डाक्टर भण्डारकर और Goldstucker का कथन इतना परम प्रमाण कैसे माना जा सकता है कि उसके आधारपर भागवत-कारके मतको भी ठुकरा दिया जाय? जब स्वयं भागवतमें ही उसके प्रणेता व्यास और वक्ता शुकदेव कहे गये हैं तो आधुनिक विद्वानोंके अनुमानका उसके आगे क्या मूल्य हो सकता है?

इसके सिवा एक बात और है! महर्षि पतञ्जलिके रचे हुए योगसूत्रोंपर भगवान् व्यासका भाष्य है। इससे भी सिद्ध होता है कि वे व्यासजीसे पूर्ववर्ती होने चाहिये। व्यासभाष्यकी प्राचीनता इससे सिद्ध होती है कि उन्होंने अन्य किसी भी दर्शनके टीकाकार-का मत उद्धृत नहीं किया, जब कि अन्य टीकाकारोंने उनका मत उद्धृत किया है।

पतञ्जलिका उल्लेख केवल भागवतमें ही नहीं, अन्यान्य पुराणोंमें भी है। इससे भी वे व्यासजीसे पूर्ववर्ती ही सिद्ध होते हैं। अतः भण्डारकर

आदि आधुनिक विद्वानोंका अनुमान प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

× × × ×

४—भगवत्पूजाके सामने देवताओंकी पूजा निःसन्देह निम्न कोटिकी है, किन्तु जो लोग स्वयं उच्चाधिकारी नहीं हैं, वे किसी कामनाकी पूर्तिके लिये यदि इन्द्रादि देवताओंकी पूजा करें भी तो क्या हानि है ? जो लोग किसी लौकिक लाभके लिये कलक्टर, इनकम-टैक्स-अफसर और पुलिस-अफसरोंकी पूजा करनेमें नहीं हिचकते, वे यदि स्वर्गादि अलौकिक लाभके लिये इन्द्रादिकी उपासना करें तो क्या हर्ज है ? फिर देवता तो भगवान्‌के ही प्रतीक माने गये हैं।

स्कन्ध ९

५—विशेष अवस्थाओंमें अपनेसे निम्न वर्णकी स्त्रीसे विवाह करनेकी शास्त्रमें आज्ञा है; किन्तु वह उत्तम पक्ष नहीं है। श्रेष्ठ तो सवर्ण विवाह ही माना गया है।

६—इस श्लोकमें जो दृष्टान्त दिया गया है, उससे न जाने आपने यह अर्थ कैसे लगा लिया कि शूद्र वेद पढ़ने लगे थे। यह आधा श्लोक इस प्रकार है—

'अस्मद्धार्यं धृतवती शूद्रो वेदमिवासती'

देवयानी शर्मिष्ठासे कहती है—असती (दुष्टा शर्मिष्ठाने) अस्मद्धार्यं (हमारे पहननेका वस्त्र) शूद्रो वेदम् इव (जैसे शूद्र वेदको धारण करे, उस प्रकार) धृतवती (धारण कर लिया) अर्थात् जैसे शूद्रका वेद धारण करना अनुचित है, उसी प्रकार शर्मिष्ठाका मेरे वस्त्रोंको धारण करना अनुचित है। इस प्रकार यहाँ तो शूद्रके वेदाध्ययनको अनुचित ही बताया गया है। स्कन्ध १०

अध्याय ३८ के चौथे श्लोकमें भी शूद्रके लिये वेद-पाठकी दुर्लभता ही कही गयी है, इसलिये इसका पूर्वकथनसे कोई विरोध नहीं है।

७—भागवतमें कल्कि-अवतारका तीन-चार जगह वर्णन तो हुआ है, परन्तु उनमें आपसमें क्या विरोध है, यह आपने लिखा नहीं और मुझे उनमें कोई विरोध जान नहीं पड़ता। यदि आप लिखते तो कुछ समाधान करनेका प्रयत्न करता।

स्कन्ध १०

८—अध्याय ४ को पढ़नेसे आपको श्रीकृष्णलीला क्यों आलङ्कारिक जान पड़ती है—इसका कारण मैं नहीं समझता। यदि आप कारणसहित अपना विचार लिखते तो मैं भी कुछ निर्णय कर सकता।

९—अरिष्टासुरका वध करके भगवान्‌ने यह शिक्षा कभी नहीं दी कि उत्पाती बैलको मार डालना चाहिये, क्योंकि वे तो जानते थे कि यह राक्षस है बैल नहीं है, और मरनेसे पूर्व वह उस रूपमें प्रकट भी हो गया था।

१०—भगवान्‌के समय ही नहीं, आजकल भी भारतवर्षके बहुत-से प्रान्तोंमें पर्दा नहीं है। पर्दा-प्रथा तो एक सामाजिक रीति है। अतः वह समयानुसार बदल भी सकती है तथा देश, काल और व्यक्तिकी दृष्टिसे उसका त्याग और ग्रहण भी हो सकता है। मुख्य दृष्टि तो हमें उसके त्याग और ग्रहणके उद्देश्यपर रखनी होगी। यदि हम शौकीनी, उच्छृङ्खलता और विषय-लिप्साकी तृप्तिके लिये उसे त्यागते हैं तो हमारा वह त्याग सात्त्विक नहीं कहा जा सकता, उससे तो हानि ही होगी।

११–सम्बन्धियोंमें विवाह-सम्बन्ध होना शास्त्रदृष्टिसे तथा सामाजिक दृष्टिसे भी विशेष उपयोगी नहीं माना जाता। राजाओं और विशेष व्यक्तियोंमें ऐसे नियमोंकी कुछ शिथिलता कभी-कभी हो जाती है। किन्तु इससे वह सर्वसाधारणके लिये उपयोगी नहीं हो सकता। पहले राजकुमारियोंका स्वयंवर होता था, किन्तु वह नियम राजकुमारियों और विशिष्ट योग्यतावाली कन्याओंके ही लिये था, सर्वसाधारणके लिये नहीं। अतः ऐसा नियम प्रचलित था—यह नहीं कह सकते।

१२–'व्यास' पद तो अवश्य है, किन्तु 'कोई व्यक्ति नहीं।' यह कैसे कह सकते हैं, क्या बिना व्यक्तिका भी कोई पद होता है? यह तो किसी-न-किसी व्यक्तिको ही आश्रय करके रहता है। अतः 'व्यास' पद भी व्यक्तिको आश्रय करके रहनेवाला है और वह व्यक्ति एक चतुर्युगीमें एक ही होता है। यह ठीक है, किसी भी कथावाचकको 'व्यास' कह सकते हैं, किन्तु वेदोंका विभाग और महाभारत एवं अठारह पुराणोंकी रचना करनेवाले व्यासदेव तो सत्यवतीनन्दन ही थे। उन्हींके प्रतीक मानकर अन्य कथावाचकोंको भी 'व्यास' कहते हैं।

इन उत्तरोंसे आपको कुछ सन्तोष हो तो ठीक है। न हो तो भी ठीक ही है। बुद्धि और विचार विभिन्न हैं। मैं क्यों ऐसा दावा करूँ कि मैं जो सोचूँ, आप उसीको मान लें। मैंने केवल अपने विचार लिखे हैं। क्षमा कीजियेगा।

जीवनका उद्देश्य और उसकी पूर्तिके उपाय

आप·······घंटे जप और·····घंटे स्वाध्याय कर रहे हैं, सो बड़ी अच्छी बात है । श्रीभगवान्‌के प्रेमकी प्राप्तिको छोड़कर जीवनका और कोई भी उद्‌देश्य न रहे तथा जीवनमें प्रतिक्षण होनेवाली प्रत्येक चेष्टा इसी उद्‌देश्यके लिये हो । जैसे गङ्गाका प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्रकी ओर जाता है, उसी प्रकार जीवन-प्रवाह भगवान्‌की ओर ही चले—ऐसा प्रयत्न हमलोगोंको करना चाहिये। इस प्रयत्नमें प्रधान बातें हैं—भगवान्‌की अहैतुकी कृपामें विश्वास, भगवान् ही एकमात्र प्राप्त करनेयोग्य सर्वश्रेष्ठ परम वस्तु हैं—यह निश्चय, भगवान्‌की ओरसे हटानेवाले अत्यन्त प्रिय-से-प्रिय और आवश्यक-से-आवश्यक पदार्थमें तुच्छ और त्याज्य-बुद्धि, भगवान्‌की नित्य-निरन्तर स्मृति बनाये रखनेकी भरपूर चेष्टा, भगवान्‌के पवित्र नामोंका निरन्तर उच्चारण और भगवत्-सेवाके भावसे ही शरीर, मन और वाणीसे क्रिया करना।

भगवान्‌की कृपामें ऐसी अमोघ और अनिवार्य शक्ति है कि वह असाध्यको भी साध्य बना देती है । अपनी तमाम इच्छाओंको, तमाम भावनाओंको भगवत्कृपाके अर्पण कर देना चाहिये । भगवत्कृपा सभीपर है, परन्तु हमने अपनेको निर्भरताके साथ भगवत्कृपाके प्रति अर्पण नहीं कर दिया है । अर्पण ही—सब कुछ भगवान्‌को पूर्णरूपसे सौंप देना ही भगवत्कृपाके परम

लाभकी प्राप्तिका प्रधान साधन है। बड़ी सीधी-सी बात है, यदि मनुष्य कर सके। भगवान्‌की कृपा तैयार खड़ी है हमारे सामने, हमारा कल्याण करनेके लिये—बस, विश्वास करके उसपर निर्भर हो जाइये।

'मनुआ महाराज'की बात आपने लिखी सो बहुत ठीक है। मन बड़ा ही बलवान् और चञ्चल है। वह कामनाओंसे भरा है और ज्यों-ज्यों कामनाओंकी पूर्ति होती है, त्यों-ही-त्यों उसकी कामनाका क्षेत्र बढ़ता जाता है। उसका बल और उसकी चञ्चलता इसमें सहायता करती है। यदि कामनाओंका दमन कर लिया जाय—एकमात्र भगवत्कृपाके ऊपर ही सब कुछ छोड़ दिया जाय, तो यही मन अपना सारा बल इसी काममें लगा देगा और चञ्चलता तो कामनाओंका त्याग करनेमें ही नष्ट हो जायगी। फिर रह जायगी अखण्ड शान्ति और अपार आनन्द। याद रखना चाहिये, कामनाकी पूर्तिमें—वासनाकी तृप्तिमें दुःख बढ़ते हैं। आनन्द तो, सच्चा आनन्द तो वासना-कामनापर विजय प्राप्त करनेपर ही प्राप्त होता है। कामनाओंकी पूर्तिसे होनेवाले आनन्दमें, और कामनाओं-के विजयसे होनेवाले आनन्दमें बड़े महत्त्वका भेद है; परन्तु हमें तो उस आनन्दका अनुभव ही नहीं है; इसीसे हम कामनापूर्तिके आनन्दको आनन्द मानकर—जो वस्तुतः सच्चे आनन्दका सच्चा आभास भी नहीं है—विषयोंके पीछे भटक रहे हैं। आप चेष्टा कीजिये मनको श्रीभगवान्‌के चिन्तनमें लगानेकी। निरन्तर ऐसा विचार और निश्चय कीजिये कि भगवान्‌से बढ़कर सुन्दर, मधुर, ऐश्वर्य-पूर्ण पदार्थ कोई है ही नहीं। यदि मन केवल उन्हींकी कामना

करने लगेगा तो वह निहाल हो जायगा। आपको भी निहाल कर देगा। फिर तो आप आनन्दमें गर्क हो जाइयेगा।

---

(४०)

वैराग्यमें राग और प्रभु-प्रार्थना

आपको यह याद रखना चाहिये कि जीव मनुष्ययोनिमें प्रभुकी इच्छासे उनकी विशेष कृपासे एक बहुत बड़े महत्त्वके कार्यको पूर्ण करने आया है। वह कार्य है भगवद्दर्शन या भगवत्प्रेम। जो मनुष्य इस महान् कार्यकी पूर्तिमें लगा रहता है वही यथार्थमें मनुष्य है, नहीं तो, सच्ची बात तो यह है कि भगवान्‌को भूलकर विषयोंमें लगे हुए मनुष्य कहने-सुननेमें कैसे ही क्यों न माने जायँ, मनुष्यत्वसे परे ही हैं। भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये अन्तःकरणकी निर्मलता आवश्यक है और जबतक भोगोंमें सच्चा विराग नहीं होता तबतक अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता नहीं मानी जाती। आप विराग चाहती हैं यह तो अच्छी बात है परन्तु आश्चर्य और खेदकी बात तो यह है कि कभी-कभी मनुष्यके हृदयमें राग ही विराग-सा बन जाता है और विषयासक्ति ही प्रकारान्तरसे विषयविरागकी चाहके रूपमें दीखने लगती है। बड़ी सावधानीसे जो चित्तवृत्तियोंका निरीक्षण करते रहते हैं उनके सामने मोहावृत वृत्तियोंका यह स्वाँग प्रत्यक्ष हो जाया करता है। खास करके प्रतिकूल स्थितिमें त्याग-वैराग्यकी जो भावना होती है उसमें प्रायः अनुकूलताकी कामना ही छिपी

रहती है और जहाँतक मेरा विश्वास और अनुभव है इस प्रकारके धोखोंसे बचनेका उपाय आतुर और विह्वल होकर प्रभुसे प्रार्थना करना है। शक्तिभर चित्तको छलहीन और शुद्ध करके भगवान्से आर्त पुकार करनी चाहिये। प्रभो ! मेरा अन्तःकरण बड़ा ही मलिन है, मैं अत्यन्त दीन-हीन हूँ, मैं जब विराग चाहती हूँ तब राग ही विरागका रूप धारण करके सामने आ जाता है, मैं जब तुम्हारे लिये अपने जीवनको न्योछावर करनेकी कल्पना करती हूँ तब चित्तकी वृत्तियाँ धोखेसे यह सिद्ध करना चाहती हैं कि 'तेरा जीवन तो न्योछावर हो चुका' पर दूसरे ही क्षण जब हृदयमें भाँति-भाँतिकी विषय-कामना जाग्रत् होती है तब मालूम होता है कि यह तो मनका धोखा था। प्रभो! मैं बिना केवटकी नैयाके समान आधारहीन हुई भवसागरमें गोते खा रही हूँ। तुम्हारे सिवा मुझे बचानेवाला और कौन है। मैं तुम्हारे शरण हूँ, मुझे तुम्हीं मार्ग बताओ—तुम्हीं मार्गपर ले चलो और तुम्हीं मार्गके साथी बनकर मुझे अपने शान्तिमय परमधाममें पहुँचा दो प्रभो !

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी
न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्यं
त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥
न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके
सहस्रशो यन्न मया व्यधायि।

सोऽहं विपाकावसरे मुकुन्द
क्रन्दामि सम्प्रत्यगतिस्तवाग्रे ॥
निमज्जतोऽनन्त भवार्णवान्त-
श्चिराय मे कूलमिवासि लब्धः ।
त्वयापि लब्धं भगवन्निदानी-
मनुत्तमं पात्रमिदं दयायाः ॥

प्रभो ! न तो मेरी धर्ममें निष्ठा है, न मुझे आत्मतत्त्वका ज्ञान है और न आपके चरण-कमलोंमें मेरी भक्ति ही है। मैं अकिञ्चन हूँ, तुम्हारे सिवा मेरा दूसरा कोई सहारा नहीं है। मैं सब ओरसे निराश होकर शरणागतोंकी रक्षा करनेवाले तुम्हारे चरणोंकी शरणमें आ पड़ी हूँ। मुकुन्द ! संसारमें ऐसा कोई निन्दित कर्म नहीं है, जिसे मैंने हजारों बार न किया हो, वही मैं आज उन कर्मोंके फल-भोगके समय तुम्हारे सामने असहाय होकर विलाप कर रही हूँ। भगवन् ! मैं इस अपार भवसागरमें न जाने कबसे डूब रही थी, आज बहुत कालके बाद तुम इस भवसागरके तटकी भाँति मुझे मिले हो। साथ ही तुमको भी आज मैं दयाकी सर्वोत्तम पात्र मिल गयी हूँ। (अब अपनी अहैतुकी दयासे ही मुझे पार लगाओ नाथ !)'

इस प्रकार हृदयकी सच्ची और कातर प्रार्थनासे भगवान् ऐसा सुन्दर प्रकाश और बल देंगे जिससे सहज ही मोहित करनेवाली वृत्तियाँ नष्ट हो जायँगी और भगवच्चरणोंमें दृढ़ अनुराग प्राप्त होगा। तभी मनुष्यजीवनका उद्देश्य सफल हो सकेगा।

(४१)

आत्मशक्तिमें विश्वासका फल

तुम्हारा एक पत्र पहले मिला था, दूसरा फिर मिला। उत्तर देनेमें मुझसे सदा ही देर हो जाती है। स्वभावदोष है। तुम्हारे पत्रोंको मैंने ध्यानपूर्वक पढ़ा। तुम बहुत घबरा रहे हो, और निराश और हतोत्साह होकर मानो चारों ओर अन्धकार देख रहे हो। असफलता, विपत्ति और आधि-व्याधिमें ऐसा होना स्वाभाविक है। परन्तु ऐसी बात वास्तवमें है नहीं। मनुष्यको कभी हतोत्साह और निराश नहीं होना चाहिये। गिरे हुए उठते हैं, दुर्बल सबल होते हैं, तिरस्कृत सम्मानित होते हैं और चारों ओर अन्धकार देखनेवाले प्रकाश पाते हैं। यह प्रकृतिका नियम है। कृष्णपक्षके बाद शुक्ल पक्ष आता ही है, रातके बाद दिन होता ही है। अतएव तुम इतना घबराओ मत। निराश होकर सर्वथा अपनेको अकर्मण्य मानकर महान् आत्मशक्तिका तिरस्कार न करो, नित्यसङ्गी सर्वशक्तिमान् और तुम्हारे-हमारे अहैतुक प्रेमी परम सुहृद् भगवान्का अपमान न करो। भगवान्की घोषणा याद रक्खो—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ॥

(गीता १८ । ५८)

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(गीता ९ । २२)

'मुझमें चित्त लगा लो, फिर मेरे प्रसादसे—अनुग्रहसे सब कठिनाइयोंसे तर जाओगे।' 'जो अनन्य पुरुष मेरी भलीभाँति

उपासना करते हुए मेरा अनन्य चिन्तन करते हैं, उन नित्य मुझमें लगे हुए भक्तोंका 'योगक्षेम' मैं (स्वयं) वहन करता हूँ ।'

अतएव तुम घबराओ नहीं । यह कभी मत सोचो कि हम तो गिरे हुए हैं, गिरे ही रहेंगे । उठेंगे ही नहीं । यह सोचना ही आत्माका और भगवान्‌का अपमान करना है । आत्मदृष्टिसे कहा जाय तो जो आत्मा भगवान् शङ्कराचार्य, बुद्धदेव, जनक, भीष्म, युधिष्ठिर, अर्जुन आदिमें था, वही तुम्हारेमें है । सुप्त आत्मशक्तिको जाग्रत् करना तुम्हारे हाथ है । भगवान्‌के बलपर निराशा, निरुत्साह, कायरता, दीनता छोड़कर साधनमें लगे रहो । आत्माकी अनन्त शक्तिपर विश्वास करो । जो मनुष्य आत्मशक्तिपर विश्वास करके काममें जी-जानसे जुट जाता है—सफलताके बारेमें कभी सन्देह नहीं करता, उसके लिये अपने-आप ही सफलताका मार्ग सुन्दर प्रकाशमय और कुशकण्टकहीन बनता जाता है और ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता है त्यों-ही-त्यों उसका अनुभव, उसका निश्चय, उसकी कार्यकरी शक्ति, उसका ज्ञान, उसकी क्षमता, उसका साहस और उल्लास बढ़ता चला जाता है । परन्तु जो आत्मशक्तिमें या भगवान्‌के बलमें सर्वथा अविश्वास करके निराश होकर बैठ जाता है, कुछ भी करनेमें अपनेको नितान्त असमर्थ समझता है, उसको ब्रह्मा भी नहीं उठा सकते । वह विषादमय जीवन ही बिताता है । सब कुछ करनेमें समर्थ होकर भी वह सब प्रकारसे वञ्चित रह जाता है ।

'हारिये न हिम्मत बिसारिये न राम ।' रामकी कृपासे और आत्माकी शक्तिसे क्या नहीं हो सकता ? इनके लिये कोषमें 'असम्भव' शब्द ही नहीं है । तुम जो अपनेको अब किसी कामका

नहीं मानते हो, सब ओरसे आश्रय और सहानुभूतिसे रहित मानते हो; बस, तुम्हारे विषादका यही कारण है। निर्धनतासे विषाद नहीं होता. वह तो आत्मग्लानिसे ही होता है। तुम्हारे शोकरहित होनेकी शक्ति तुम्हारे साथ भगवान्‌ने पहलेसे ही दे रक्खी है, वह नित्य तुम्हारे साथ रहती है। तुम्हारे अंदर ही है। उसके रहते तुम अपनेको निराश्रय और सहानुभूतिसे रहित क्यों मानते हो ? वही तो सच्चा और पक्का आश्रय है, जो बुरी-से-बुरी हालतमें भी साथ नहीं छोड़ता। भय, विभीषिका, वियोग, विषाद और विनाशमें भी जो साथ ही रहता है। तुम्हारे प्रत्येक दुःखमें जो दुःखका अनुभव करता रहता है, उस महामहिम नित्य आश्रयको बिसारकर ही तुम दुखी हो रहे हो। तुम इसी अवस्थामें आज ही सुखी हो सकते हो, यदि उसे देख पाओ—उसका अनुभव कर सको। तुमने मेरे लिये लिखा कि 'आप सर्वशक्तिमान् हैं, सब जगह आपका निवास है; यह हमारा पक्का विश्वास है। हम अब केवल आपके ही शरण हैं, आपको ही अपनेको अर्पण करते हैं। हमारा रास्ता आप ही कीजिये।' सो भैया! यह तुम्हारा पागलपन है। आत्माकी दृष्टिमें मुझे सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापी मानते हो तब तो ठीक, ऐसे ही तुम भी हो। अन्य किसी दृष्टिसे मानते हो तो तुम्हारा सर्वथा भ्रम है, इस भ्रमको तुरंत छोड़ दो, इससे कोई लाभ न होगा। उन परमात्माके शरण जाओ जो वस्तुतः सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वलोक-महेश्वर होते हुए ही तुम्हारे-हमारे सबके परम सुहृद् हैं। अपना सब कुछ उन्हींके अर्पण कर दो। अपने सुख-दुःख भी उन्हें सौंप दो। सब अर्पण करनेवालेके पास दुःख, निराशा, उदासी, अन्धकार—

ये सब कहाँ रह जायँगे ? ये रहेंगे तो सब अर्पण कैसे हुआ ? अतएव उन्हें इन सबको भी दे दो । कह दो—अच्छा-बुरा सब तुम्हारा । जब हमीं तुम्हारे हो गये तो इस हमारी बुराईको हम कहाँ रक्खें । वे दयालु प्रभु तुम्हारे अच्छे-बुरे सारे उपहारोंको अपनी कृपाकी नजरसे परम पवित्र और परम दिव्य बनाकर ग्रहण कर लेंगे । उनकी दयापर विश्वास करो । समस्त बल, समस्त ऐश्वर्य, समस्त श्री, समस्त धर्म, समस्त ज्ञान और समस्त वैराग्यके वे भण्डार हैं । और अपने सारे ऐश्वर्यसे, सारे माधुर्यसे, सारी शक्तिसे तुम्हें अपनानेको सदा तैयार हैं । उनकी शरण जाओ, वे तुमपर अपना दिव्य अमृत-कलश उँड़ेलकर तुम्हें निहाल कर देंगे । घबराओ नहीं, निराश न होओ, वे तुम्हारे हैं, इस बातपर पूर्ण विश्वास करो और अपने भविष्यको उज्ज्वल—परम उज्ज्वल देखो । उनकी कृपासे तुम्हारा भविष्य इतना उज्ज्वल हो सकता है जितनेकी तुम कल्पना नहीं कर सकते ।

यदि तुम्हें मुझपर कुछ भी विश्वास है तो तुम मेरी उपर्युक्त बातोंपर विश्वास करके अनन्त आत्मशक्तिपर, और परम सुहृद् भगवान्‌की अपार कृपापर विश्वास करके शोक, विषाद, निराशा और निरुत्साहको छोड़कर उनके चरणोंका स्मरण करते हुए निश्चयपूर्वक उनके शरणकी ओर बढ़ चलो । अगर तुमने ऐसा किया तो मैं भी तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल ही नहीं, उज्ज्वलतम हो सकता है और उसकी प्रभाको पाकर बहुत दूर-दूरके लोग प्रकाश पा सकते हैं ।

हमेशा भगवान्‌का चिन्तन करो । चित्तमें प्रसन्न रहो और

आनन्दपूर्वक आगे बढ़ते चलो । शुद्ध नीयतसे कर्म करते रहो । भगवान् सब आप ही ठीक करेंगे !

(४२)

साधकोंसे

····अपने दोषोंका दीखने लगना साधन-स्तरमें ऊपर चढ़नेकी इच्छाका लक्षण है, दोषोंका दीखते रहना दोषनाशकी प्रवृत्तिका कारण है, दोषोंके लिये जीमें जलन पैदा हो जाना दोष-नाशका आरम्भ हो जाना है, जरा-से भी दोषका हृदयमें सदा शूल-सा चुभना दोषोंसे बहुत-कुछ मुक्त हो जानेका लक्षण है, और दूसरेके दोषोंका सर्वथा न दीखना एवं अपने दोषनाशकी भी स्मृति न रहना दोषोंका नाश है । दोषोंका सर्वथा नाश और भगवान्‌का सर्वदा सर्वत्र दर्शन प्रायः एक ही कालमें होनेवाली स्थिति है । आपलोगोंको अपने दोष दीखते रहते हैं और खटकते भी हैं, यह शुभ लक्षण है । परन्तु इतनेसे ही सन्तुष्ट न हो जाइये । जबतक जरा-सा भी विकार मनमें होता है तबतक दोषके बीजका नाश नहीं हुआ है । जहाँ बीज है, वहाँ अनुकूल संयोग मिलनेपर उसके अङ्कुरित होने और फूलने-फलनेमें कौन देर लगती है । दोषका बीजनाश करनेकी चेष्टा कीजिये । यह दोषबीजनाश भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे होता है और उनकी अपार और अनन्त कृपाका अनुभव करनेसे ही कृपा फलवती होती है । अतएव पद-पदपर और पल-पलमें भगवान्‌की अपार कृपाका अनुभव करते रहना चाहिये । उनके सर्वदोषहर

वरद-कोमल करकमलको सदा अपने सिरपर समझना चाहिये, और उनके अपरिमित बलसे अपनेको सदा बलवान् मानकर पाप-तापकी स्फुरणातकको नष्ट कर देना चाहिये। उनके बलके सामने पाप-तापका बल किस गिनतीमें है। भगवान्‌के नाममें पूरा आनन्द नहीं आता, इसका कारण यही है कि भगवान्‌में अभीतक प्रियतम-बुद्धि नहीं है। जिसमें प्रियतम-बुद्धि हो जाती है, उसके नामकी तो बात ही निराली है, उसकी फटी जूतीका चिथड़ातक अत्यन्त प्यारा लगता है। भगवान्‌में प्रियतम-बुद्धि हो जानेपर उनके सारे जगत्‌में—भयानक जगत्‌में भी उन्हींके नाते अत्यन्त प्रेम हो जायगा, और सभी वस्तुएँ आनन्ददायिनी बन जायँगी; क्योंकि सबमें फिर उन्हीं परम प्रियतमका सम्बन्ध दीख पड़ेगा, सभी उनके करकमलोंसे संस्पृष्ट जान पड़ेंगी। फिर नाम परम मधुर हो जायगा। नाम सुनानेवाला परम प्रिय और परम पूज्य जान पड़ेगा। उनकी स्मृति करा देनेवालेके चरणोंमें चित्त लुट पड़ेगा।

बड़े भाग्यसे गङ्गाका विमल तट, तीर्थराजकी पावन भूमि, दिन-रात श्रीभगवन्नामके श्रवण-कीर्तनका संयोग प्राप्त होता है। यह श्रीभगवान्‌की कृपाका प्रत्यक्ष प्रमाण है। इससे पूरा लाभ उठाइये। तन-मन-वाणीको, प्रत्येक इन्द्रियको भगवान्‌की ओर लगा दीजिये। ऐसा तन्मय हो जाना चाहिये कि आपलोगोंको देखकर दूसरोंमें भी उत्साह उमड़ आवे।

मान-बड़ाईकी चाहका चित्तमें न रहना ही आश्चर्य है, रहनेमें कुछ भी अचरज नहीं। हाँ, चोरीसे चित्तमें छिपी हुई इस चाहको

जितनी ही सावधानीसे बार-बार बाहर निकाला जाय, उतना ही उत्तम है। और भगवान्‌की कृपासे ही ऐसा हो सकता है। यह भी भगवान्‌की कृपा ही समझिये कि आपलोगोंको मान-बड़ाईकी चिन्ताका पता लग गया है। इसे भगवान्‌के बलसे प्राप्त दैन्य, विनय, शील, सौजन्य, अपने दोषोंको देखनेकी सतत प्रवृत्ति और अपरिमित आत्मबल आदि हथियारोंसे तुरंत मार हटाना चाहिये।

सब साधकोंको अपनेसे बड़े समझकर सबका सम्मान करना चाहिये। स्वयं सच्चे मनसे अमानी बनकर सबको मान देना चाहिये। मन, नेत्र और क्रियामें कहीं काम-क्रोधका अङ्कुर भी न आ जाय, इसके लिये बड़ी सावधानीसे सर्वदा सचेत रहना चाहिये। आलस्य और प्रमाद भी न हो। ऐसा निश्चय होना चाहिये कि इस अवधिमें ही भगवान् हमारे चिरकालके मनोरथको पूर्ण कर देंगे। सच्चा विश्वास होनेपर भगवत्कृपासे ऐसा होना कुछ भी बड़ी बात नहीं है। भगवान्‌ने कहा है कि 'महान् दुराचारी भी अपने शेष जीवनको मुझमें लगानेका निश्चय करके अनन्य चित्तसे मेरा चिन्तन करता है तो वह साधु ही है, और बहुत ही शीघ्र—पलक मारते-मारते वह धर्मात्मा होकर शाश्वती शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

भगवान्‌के आश्वासन-वचनोंपर विश्वास करके हमें उनके अनन्य चिन्तनमें दृढ़ निश्चयपूर्वक लग जाना चाहिये। वहाँ आप-को और करना ही क्या है!

कार्यकर्ता साधकोंके प्रति

इधर आपसमें कुछ कलह तथा द्वेष बढ़ा दीखता है, यह नया नहीं है। मनमें छिपा था वही बाहर निकल रहा है। पहले थोड़ा काम था और थोड़े कार्यकर्ता थे, इससे थोड़े रूपमें था। अब ज्यों-ज्यों काम बढ़ा, आदमी बढ़े, त्यों-ही-त्यों छिपे दोषोंका भी अधिक प्रकाश और प्रसार होता गया। फिर, इस समय तो सारे भूमण्डलका ही वातावरण विक्षुब्ध हो रहा है। ऐसी अवस्थामें ऐसा न होना ही आश्चर्यकी बात थी! तथापि जो लोग साधनाके उद्देश्यसे यहाँ काम करने आये हैं या करना चाहते हैं उनके लिये तो यह स्थिति अवश्य ही शोचनीय है। सच पूछिये तो बात यह है कि लोगोंने अभीतक अपने जीवनका एक उद्देश्य ही निश्चित रूपसे स्थिर नहीं किया है, और जिन्होंने कुछ किया था, वे भी प्रपञ्चमें पड़कर शायद उसे भूल-से गये हैं। शुद्ध सेवाके भावसे, खास करके परमार्थ-साधनके उद्देश्यसे काम करनेवालोंको नीचे लिखी बातोंपर अवश्य ध्यान देना चाहिये और जहाँतक बने, इन सब बातोंको अपनेमें प्रकट करनेकी पूरी कोशिश करनी चाहिये।

१—जीवनका उद्देश्य है—भगवत्प्रेमकी प्राप्ति (या भगवत्प्राप्ति)। यह उद्देश्य हमेशा याद रहे और प्रत्येक चेष्टा इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये हो। सदा यह ध्यान रहे कि मुझे लौकिक या पारलौकिक प्रत्येक कार्यके द्वारा केवल 'भगवत्सेवा' करना है। जैसे धन कमानेकी इच्छावाला मनुष्य स्वाभाविक ही सदा सावधान रहता है और जान-

बूझकर ऐसा कोई काम नहीं करता जिससे धनकी आमदनीमें बाधा हो, या धनका व्यर्थ व्यय और नाश हो। उसे धनकी जरा-सी हानि भी सहन नहीं होती, इसी प्रकार सच्ची सेवा करनेवाला साधक कोई भी ऐसा काम नहीं करता जो भगवान्‌की रुचिके प्रतिकूल हो या भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके पथमें जरा भी विघ्नरूप हो।

२—सब जीवोंमें भगवान्‌का निवास है—यह समझकर सबका सम्मान करे, सबसे प्रेम करे, सबका हित-साधन करे और सबके साथ निष्कपट सत्य व्यवहार करे। जिसके व्यवहारमें सम्मान, प्रेम, हित और सत्य समाया है वह सहज ही सबका प्रिय हो जाता है। कटुता तो अभिमान, द्वेष, अहित और कपटसे आती है।

३—धार्मिक भाव हो—

(क) प्रातःकाल उठते और रातको सोते समय अपने इष्टदेव भगवान्‌का स्मरण करे।

(ख) अपने शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार सन्ध्या, गायत्री-जप और प्रार्थना प्रतिदिन यथासमय करे।

(ग) भगवान्‌के नामका नियमित जप तो करे ही। दिनभर जीभसे नाम-जप करनेकी आदत डाले। नित्य भगवद्गीता और रामचरितमानस आदिका नियमित स्वाध्याय करे।

(घ) भगवान्‌में और अपने धर्ममें श्रद्धा-विश्वास रक्खे और उसे बढ़ाता रहे।

(ङ) भगवान्‌के विधानमें न तो कोर-कसर देखे और न उसे पलटनेकी कभी इच्छा ही करे।

(च) जहाँतक बने—अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य-व्रतका अधिक-से-अधिक पालन करे । जान-बूझकर इन व्रतोंको भङ्ग न करे ।

(छ) संग्रह-परिग्रह कम-से-कम करे । योगक्षेमके लिये भगवान्‌पर अटूट श्रद्धा रक्खे । किसी भी लाभके लोभसे कभी भूलकर भी अन्याय और अधर्मका आश्रय न ले ।

(ज) बाहर और भीतरसे स्वच्छ रहनेकी चेष्टा करे । शरीर, दाँत और कपड़ोंपर मैल न जमने दे । रहनेके स्थानको भी साफ-सुथरा रक्खे । सद्विचारोंके द्वारा मनको पवित्र करता रहे ।

(झ) गुरुजनोंपर तथा शास्त्रपर श्रद्धा रक्खे । माता-पिताकी सेवा करे । स्त्री-बच्चे तथा सेवकोंके साथ प्रेमपूर्ण सद्व्यवहार करे । अपनी हानि सहकर भी दूसरोंकी सेवा करे । याद रखना चाहिये दूसरोंका भला करने-वालोंका परिणाममें कभी बुरा हो ही नहीं सकता ।

(ञ) खान-पानमें संयम, सादगी और शुद्धिका पूरा खयाल रक्खे ।

(ट) तन-वचनसे ऐसा कोई भी काम कभी न करे जिसको देख-सुनकर घरके लोगों, साथी कार्यकर्ताओं, सेवकों और पड़ोसियों आदिमें भगवान्‌के प्रति अविश्वास, धर्ममें शिथिलता और चरित्रमें दोष आनेकी सम्भावना हो ।

(ठ) गरीब, दीन, मजदूर और विपत्तिग्रस्त नर-नारियोंके प्रति विशेष सहानुभूति तथा प्रेमका बर्ताव करे ।

(ङ) परनिन्दा, पर-चर्चा परदोष-दर्शन आदिसे यथासाध्य बचा रहे ।

४—चरित्र शुद्ध हो—

जिसके आचरण शुद्ध हैं, वही सच्चा मनुष्य है और वही भगवत्प्रेमका भी अधिकारी हो सकता है । यह जानकर इन बातोंपर ध्यान रक्खे—

(क) जहाँतक हो, युवती स्त्रियोंसे मिलना-जुलना बहुत कम रक्खे । एकान्तमें तो साथ रहे ही नहीं । कार्यवश किसीसे मिलनेकी जरूरत पड़े तो दृढ़ताके साथ उसमें भगवद्बुद्धि या मातृबुद्धि करे । स्त्रीमात्रमें ही भगवती या मातृभावना करनी चाहिये । मनमें इतनी विशुद्धि पैदा कर लेनी चाहिये कि किसी भी स्त्रीके चिन्तन, दर्शन या बातचीतसे मनमें कोई विकार आवे ही नहीं ।

(ख) रुपये-पैसेके सम्बन्धमें सदा स्पष्ट और ईमानदार रहे । दूसरेकी छदामपर भी चित्त न चले । छोटे या बड़े प्रत्येक लेन-देनमें एक-एक पैसेका हिसाब पूरा और दुरुस्त रक्खे और उसे अधिकारियोंको दिखानेमें जरा भी संकोच या अपमान न समझे । जहाँतक हो हिसाब हाथों-हाथ दे दिया जाय ।

(ग) गंदे साहित्य, गंदी बात-चीत और गंदे नाटक-सिनेमा आदिसे सर्वथा बचा रहे ।

(घ) चरित्र-सम्बन्धी दिनचर्या प्रतिदिन लिखे और अपनी

भूलोंपर पश्चात्ताप करके भविष्यमें भूल न करनेका निश्चय करे ।

५—स्वार्थसिद्धिकी कामना न हो । जैसे—

(क) सेवा करनेसे लोगोंकी मुझपर श्रद्धा होगी तो मैं महात्मा कहलाऊँगा, लोग मुझे अपना गुरु, सरदार या नेता समझेंगे । मेरा सम्मानपूजन करेंगे, मेरे आज्ञाकारी होंगे । मेरी कीर्ति फैलेगी और इतिहासोंमें मेरा नाम अमर रहेगा ।

(ख) मुझे खाने-पीने-पहननेकी कोई तकलीफ नहीं होगी । शिष्यों, सेवकों तथा अनुयायियोंके द्वारा मुझे सदा अच्छा आराम और अभावपूर्तिके लिये आवश्यक सामग्रियाँ अपने-आप मिलती रहेंगी । फिर जीविकाका तो कोई प्रश्न रहेगा ही नहीं ।

६—अभिमान न हो । जैसे—

(क) मैंने सेवाके लिये कितना त्याग किया है जो तन-मन-धनसे सेवामें लगा हूँ ।

(ख) मैं योग्यता होनेपर भी अवैतनिक या केवल निर्वाह-मात्रके लिये थोड़ेसे रुपये लेकर इतना काम करता हूँ, अतएव वेतन लेकर या अधिक वेतन लेकर काम करनेवालोंसे श्रेष्ठ हूँ । वे मेरी बराबरी कैसे कर सकते हैं ?

(ग) मैं धर्म या देशकी सेवा करता हूँ, दूसरे लोग तो केवल

परिवार या अपने ही भरण-पोषणमें लगे हैं, इसलिये मैं उनसे श्रेष्ठ हूँ।

(घ) मुझमें विद्या अधिक है, मैं एम्० ए०, आचार्य आदि डिग्रियोंको प्राप्त हूँ। कम पढ़े-लिखे लोग बुद्धि-विचारमें मेरे समान कैसे हो सकते हैं?

७—स्वभाव और वाणीके व्यवहारमें दृढ़ताके साथ पूरी नम्रता, कोमलता और प्रेम हो—

(क) कार्यपद्धति या संस्थाके नियमोंका पालन स्वयं दृढ़तासे करके अपने साथियोंसे करवावे।

(ख) परन्तु स्वभावमें और वाणीमें अमृत-सी मिठास भरी हो, जिससे किसीको भी उसका व्यवहार अखरे नहीं।

(ग) स्वयं आचरण करके अपने साथियोंमें नम्रता, कोमलता, विनय, प्रेम तथा शुद्ध सेवाका भाव जाग्रत् करे—उपदेश या आदेशसे नहीं। जो स्वयं उत्तम आदर्श व्यवहार नहीं करता, उसके उपदेशका दूसरोंपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और उसे यह आशा भी नहीं रखनी चाहिये कि मेरे उपदेशसे लोग उत्तम व्यवहार करेंगे। दूसरोंकी बाट न देखकर उत्तम व्यवहारकी शुरुआत पहले अपनेसे ही करनी चाहिये।

८—आर्थिक लोभ न हो—

सेवाके भावसे ही सेवा-कार्य हो; स्वच्छन्द जीविकानिर्वाह और धनकी वृद्धिके उद्देश्यसे नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि अपने और परिवारके निर्वाहके लिये—यदि किसी संस्थामें पूरा समय

देकर काम करना है तो वहाँसे कुछ ले ही नहीं। निर्वाहके लिये खर्च लेनेमें जरा भी आपत्ति नहीं; बल्कि न लेनेमें आपत्ति है। खर्च नहीं लिया जायगा तो समय तथा बुद्धि दोनोंका व्यय करके निर्वाह-की चेष्टा दूसरी तरहसे करनी पड़ेगी जिससे अबाध सेवाकार्यमें रुकावट होगी। परन्तु इतना ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि अनावश्यक खर्च जरा भी बढ़ाया तो जाय ही नहीं, जहाँतक हो इन्द्रियसंयम, भोजनाच्छादनमें सादगी तथा अपना काम अपने हाथों करनेकी आदत डालकर उत्तरोत्तर खर्च घटाता रहे। आवश्यकता और अभाव जितना ही कम होगा, उतना ही खर्च भी कम होगा, और खर्चके लिये रुपयोंकी जरूरत जितनी कम होगी उतनी ही सेवा शुद्ध होगी। रहन-सहनमें गरीबों और त्यागियोंका आदर्श सामने रखना चाहिये, भोगियों और धनवानोंका नहीं। झूठी मान-बड़ाई, आरामतलबी और विलासितामें पैसा खर्च करना अथवा पैसे बटोरकर धनी बननेकी चाह रखना—दोनों ही बातें साधकके लिये अत्यन्त हानिकर तथा सेवामें कलङ्क लगानेवाली हैं।

९—आत्मश्रद्धा, समयका सदुपयोग, नियमानुवर्तिता, आज्ञा-कारिता; सहयोग और श्रेय—

(क) भगवान्में, भगवत्कृपामें और भगवत्कृपाके बलपर अपने आत्मामें पूर्ण श्रद्धा हो। यह दृढ़ निश्चय करे कि मैं सब दोषोंसे मुक्त रहकर स्वाभाविक ही सत्कार्योंके द्वारा पूरी सफलताके साथ भगवान्की सेवा कर सकता हूँ और करूँगा।

(ख) जिस कामके लिये जो समय नियत हो, उस समय

वही काम करे, समयका दुरुपयोग तो कभी न करे। व्यर्थकी बातोंमें; दूसरोंके दोपकथनमें, ताश-शतरंजमें और आलस्य-प्रमादमें जीवनके बहुमूल्य समयको जरा भी न खोवे। सदा-सर्वदा किसी-न-किसी अच्छे काममें लगा रहे। निकम्मे आदमीको ही प्रमाद सूझा करता है।

(ग) संस्थाके सिद्धान्तों और नियमोंका पालन करे और उसके उद्देश्यकी सिद्धिके लिये पूरी जिम्मेवारी मानकर तत्परताके साथ अपना कार्य करे और उसीके अनुकूल अपना जीवन बनानेकी श्रद्धायुक्त चेष्टा करे।

(घ) नम्रताके साथ अधिकारियोंकी आज्ञाका कर्तव्य समझकर सुखपूर्वक पालन करे। कभी भी व्यवस्थामें गड़बड़ी पैदा न करे। अपनी ऐसी सुविधा न चाहे जिससे संस्थाकी कार्य-व्यवस्थामें अड़चन आवे और दूसरोंपर बुरा असर पड़े।

(ङ आवश्यकतानुसार मिल-जुलकर काम करनेमें कभी अपमान न समझे, सहयोगियोंके साथ राग-द्वेपरहित प्रेमका बर्ताव करे, उनके कार्यकी उचित प्रशंसा करके—नये हों तो सम्मानपूर्वक उन्हें काम सिखाकर उत्साह दिलाता रहे और उन्हें अपनेसे नीचा न समझे। प्रतिद्वन्द्विता और दलबंदी कभी न करे।

(च) किसी भी कार्यकी सफलताका श्रेय अपनेको न मिलकर अपने किसी साथीको मिले तो उसमें यथार्थ ही सुख

> माने। शुद्ध सेवक श्रेय मिलनेके लिये काम नहीं करता, वह तो भगवत्सेवाके लिये करता है। उसे अपने कर्तव्यपालनसे काम है, नाम या यशसे नहीं। इसलिये उसे तो चाहिये कि काम स्वयं करे और श्रेय साथियोंको दिलावे। किसी दूसरेकी सफलताके श्रेयमें हिस्सा बँटानेकी कभी इच्छा या चेष्टा न करे और न डाहसे उसके कार्यमें दोषारोपण करके उसके श्रेयको कम करने या मिटानेकी ही कल्पना करे।

मेरी समझसे इन बातोंपर खयाल रखकर इनका पालन करनेसे बहुत कुछ सुधार हो सकता है। यद्यपि है तो यह मेरा परोपदेश-मात्र ही। 'अच्छा तो तब था जब मैं स्वयं इनका पालन करता। मेरी स्थिति तो उस चोरकी-सी समझिये जो स्वयं चोरी नहीं छोड़ सकता; परन्तु अपने अनुभवके रूपमें चोरीके बुरे नतीजे—जेलके कष्ट आदिको बतलाकर दूसरे लोगोंसे कहता है कि 'भैया! मैं तो अपनी करनीका फल पा रहा हूँ; परन्तु आपलोग ऐसा काम न कीजियेगा जिससे मेरी ही भाँति आपलोगोंको भी पछताना पड़े।'*

(४४)

कर्मोंका भगवान्‌में अर्पण

तुम्हारा पत्र मिला। उपदेश देनेका तो मैं अधिकारी नहीं हूँ। सलाहके तौरपर यही कह सकता हूँ कि आलस्य, असंयम

---

* यह पत्र गीताप्रेसके एक कार्यकर्ताको लिखा गया था। किसी भी सेवा करनेवाली संस्थाके कार्यकर्ता इससे अपने लिये उपयोगी बातें लेकर लाभ उठा सकते हैं।

और अविश्वासका त्याग करके श्रीभगवान्का नाम-जप करना चाहिये तथा नाम-जप करते हुए ही भगवत्सेवाके भावसे कर्तव्यकर्म करनेकी आदत डालनी चाहिये। कर्मसे भागना नहीं चाहिये। कर्म बन्धन करनेवाला नहीं है, बन्धन करनेवाला नीचा भाव है। भगवान्के कथनानुसार, यदि यज्ञार्थ कर्म हो तो उससे बन्धन नहीं होता। भगवान्ने कहा है—'जो कुछ भी कर्म करो, सब मेरे अर्पण करो। इस प्रकार करनेसे तुम शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाओगे और अन्तमें मुझको ही प्राप्त होओगे।' (गीता ९।२७-२८) भगवान्ने कर्मका निषेध नहीं किया; कर्म करनेकी तो आज्ञा दी, परन्तु सब कर्मोंका अर्पण अपनेमें (भगवान्में) करनेको कहा। कर्म किये बिना मनुष्य रह ही नहीं सकता। जो कर्मसे भागता है, उसे भी कर्म करना पड़ता है। और जबतक कर्ममें आसक्ति है, तबतक उसके कारण बन्धनका भय है। बड़े-बड़े प्रलोभनोंको लात मारकर आये हुए विद्वज्जन भी छोटे-छोटे प्रलोभनोंमें फँसकर गिरते देखे-सुने जाते हैं। असली चीज तो है भाव और उस भावसे होनेवाला भजन। भाव न भी हो तो भजन करना चाहिये। कलियुगमें तो नाम-भजन ही मुख्य है।.......

स्नेह और कृपा तो भगवान्की सबपर है, सदा ही है और अनन्त है। शरणमें रखनेकी सामर्थ्य भी उनमें ही है। उन्हींके शरण होना चाहिये।
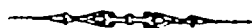
अङ्गोंका भगवान्‌को अर्पण और निर्भरता

'अङ्गोंके अर्पण' और 'निर्भरता'के सम्बन्धमें पूछा सो आपकी कृपा है। इन प्रश्नोंका उत्तर वस्तुतः दिया ही नहीं जा सकता। ये तो अनुभवकी चीजें हैं; फिर थोड़ा-बहुत वे पुरुष समझा सकते हैं, जिनका सब कुछ भगवान्‌के अर्पण हो चुका है और जो सब प्रकारसे एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर करते हैं। मेरे-सरीखा प्राणी इन प्रश्नोंका उत्तर क्या दे! तथापि हरिचर्चाके बहाने कुछ लिखनेका प्रयत्न करता हूँ। अङ्गोंका अर्पण भगवान्‌के प्रति ऐसा ही होना चाहिये, जैसा इस समय भोगोंके हो रहा है। सभी अङ्ग अपने-अपने विषयोंमें लगे हैं। इसी प्रकार सभी अङ्गोंके विषय <u>एक</u> भगवान् ही हो जायँ। आगे चलकर तो ऐसी स्थिति भी हो जाती है कि प्रत्येक अङ्ग भगवान्‌के संस्पर्शका अनुभव करता है; परन्तु पहले इस प्रकार विचारद्वारा निश्चय कर लेना होगा कि इन्द्रियोंके तथा अन्य तमाम अङ्गोंके द्वारा जो कुछ भी किया जाता है, सो सब श्रीभगवान्‌के लिये ही किया जाता है। नेत्रके द्वारा किसी वस्तुको देखते हैं तो भगवान्‌के लिये देखते हैं, कानसे कुछ भी सुनते हैं तो भगवान्‌के लिये सुनते हैं, मनसे कुछ भी सोचते हैं तो भगवान्‌के लिये सोचते हैं। जैसे धनके प्रयत्नमें लगा हुआ मनुष्य प्रत्येक क्रियामें धन बचाने और धन कमानेका लक्ष्य रखता है, उसका देखना, सुनना, सोचना सब जैसे उसी लक्ष्यकी पूर्तिके अङ्ग बन जाते हैं, उसी प्रकार भगवान्‌को लक्ष्य

बनाकर तमाम अङ्गोंकी प्रत्येक क्रिया भगवत्प्रीत्यर्थ होती है—ऐसा निश्चय करना और प्रत्येक क्रियामें इसका अनुभव करना होगा । सब कुछ अर्पण हो जानेपर फिर विचारद्वारा अनुभव करनेकी आवश्यकता नहीं रहेगी—स्वाभाविक ही तमाम क्रियाएँ भगवदर्थ होंगी । इसके बाद यह पता लगेगा मानो तमाम क्रियाएँ भगवान्‌का संस्पर्श करानेवाली होती हैं । प्रत्येक चेष्टामें भगवान्‌के सङ्ग-सुखका अनुभव होगा । इसके बाद पूर्ण अर्पण हो जानेपर भगवान्‌का ही सब अङ्गोंपर स्वामित्व हो जायगा । फिर भगवान् ही सब कुछ करें-करावेंगे । यहाँ 'अहङ्कार' का भी पूर्ण अर्पण हो जायगा । ऐसे अर्पणकी तैयारी कर रखनी पड़ती है, फिर भगवान् उसे स्वयं ही ग्रहण कर लेते हैं । पहले भगवान्‌के लिये करना; फिर भगवान्‌को ही देखना-सुनना, स्पर्श करना; तदनन्तर क्रिया करनेवाली इन्द्रियों और अङ्गोंका तथा जिसके इन्द्रिय और अङ्ग थे, उस 'अहङ्कार'का भी प्रभुके अर्पण हो जाना—यही संक्षेपमें अर्पणका स्वरूप है । इसके बहुत-से स्तर हैं, बहुत लंबी व्याख्या हो सकती है, परन्तु उसके लिये न समय है और न मेरी योग्यता ही है ।

निर्भरता कहते हैं एकमात्र भगवान्‌पर ही पूर्णरूपसे अपनेको ढाल देनेको । भगवान् जो कुछ करें-करावें, जो दें-लें, भगवान् मेरे लिये जो ठीक या बे-ठीक समझें, भगवान् जिस बातमें अनुकूलता या प्रतिकूलता देखें, भगवान् जैसा भी विधान करें, और भगवान् जिस किसी स्थितिमें रक्खें; न तो अपने मनसे उसके विपरीत कुछ चाहना और न किसी अन्यकी सहायताकी अपेक्षा रखना—यह निर्भरता है ।

विपत्ति और प्रलोभन प्राप्त होनेपर निर्भरताका पता लगता है। जो विपत्तिसे घबराता है, प्रलोभनकी ओर खिंचता है। विपत्तिमें किसी दूसरेकी सहायताकी अपेक्षा करता है, प्रलोभनमें किसी वस्तुको स्वीकार कर लेता है, वह निर्भर नहीं है। 'प्रलोभनकी जड़ कट जाती है और विपत्तिका भय समूल नष्ट हो जाता है—भगवान्‌की निर्भरतामें।' निर्भरताके साधनमें मनुष्यकी परीक्षा होती है—दूसरोंके द्वारा अनायास ही महान् सम्पत्ति सामने रक्खी जाकर, और धधकती हुई आगकी भट्टीमें सोनेकी भाँति विपत्तिकी प्रचण्ड ज्वालाओंमें जलाकर। यह परीक्षा डिगानेके लिये, मार्गच्युत करनेके लिये नहीं होती; होती है उसे और भी पक्का करनेके लिये, पूर्णरूपसे निर्भर बनानेके लिये।

पति कितना ही कष्ट दे, भरी सभामें चाहे कितना ही अपमान या तिरस्कार करे, पतिव्रता स्त्रीका आदर्श है—किसी भी हालतमें पतिके आश्रयका त्याग न करना। जैसे विपत्तिमें वह पतिका त्याग नहीं करती, वैसे ही किसीके भी द्वारा कितना भी महान् लालच दिये जानेपर भी वह पतिसे विमुख होकर उसकी ओर नहीं ताकती। इसी आदर्शके अनुसार निर्भर भक्त भगवान्‌का आश्रय नहीं छोड़ता। पतिव्रताका उदाहरण भी सिर्फ समझानेके लिये ही है। निर्भर भगवद्भक्तकी स्थिति तो अत्यन्त विलक्षण होती है।

जो विपत्तिमें विपत्तिके नाशके लिये दूसरोंकी ओर ताकता है, उसकी तो बात ही क्या—जो विपत्तिको विपत्ति समझता है, वह भी सच्ची निर्भरतासे हटा हुआ है। इसी प्रकार जो सम्पत्ति किसीके द्वारा मिलनेपर स्वीकार कर लेता है या किसीसे चाहता

है, उसकी तो बात ही क्या है—जो सम्पत्तिकी चाह भी करता है, वह भी असली निर्भर नहीं है। जिस चीजके बिना प्राण और लज्जारक्षणका काम भी नहीं चलता, उस चीजके अभावमें भी यह दृढ़ अनुभव हो कि 'मेरे कल्याणके लिये ही भगवान्‌ने यह विधान किया है'—इसीका नाम निर्भरता है। नित्य पुण्य करते भी दुःख मिले और उसमें भगवान्‌का विधान समझकर आनन्द हो—यह निर्भरता है। मतलब यह कि भगवान्‌में अनन्य ममत्व और अनन्य विश्वास हो और अपनेको सब प्रकारसे भगवान्‌पर ही छोड़ दिया जाय। समझानेके लिये निर्भरताका यही स्वरूप है। परन्तु यह भी बाह्य ही है।

इससे नीचेके स्तरमें वे भी निर्भर भक्त हैं 'जो अपना यथार्थ कल्याण तो चाहते हैं, परन्तु चाहते हैं केवल भगवान्‌से ही। और रात-दिन अपने सब अङ्गोंसे भगवान्‌का ही सेवन करते हैं।'

इससे भी नीचेके स्तरमें वे भी निर्भर ही कहे जाते हैं—'जो सांसारिक भोगपदार्थोंकी प्राप्ति या विपत्तिका नाश तो चाहते हैं, परन्तु चाहते हैं एकमात्र भगवान्‌से ही, दूसरेकी ओर नहीं ताकते। और यह दृढ़ भरोसा तथा विश्वास रखते हैं कि भगवान् अवश्य ही हमारा मनोरथ पूर्ण करेंगे एवं पूर्ण न होनेपर उसे भगवान्‌की ही मङ्गल इच्छा मानकर जो भगवान्‌पर रोष नहीं करते।' यह नीचे दर्जेकी निर्भरता है। और भी अनेकों स्तर हैं। स्थूलरूपसे ये तीन ही स्तर समझने चाहिये। एक महात्माने कहा है, भगवान्‌पर निर्भर रहनेके तीन लक्षण हैं—

(१) दूसरेसे कुछ भी न माँगना, (२) मिले तो भी न लेना, (३) मजबूर होकर लेना ही पड़े तो बाँट देना ।

मतलब यह कि भगवान्‌के विधानपर जरा भी सन्देह न करके अपनेको उसपर सब प्रकारसे छोड़ देना और निरन्तर सारी इन्द्रियोंसे उन्हींका भजन करना निर्भरता है । ये सब ऊँचे आदर्श-की बातें हैं । अवश्य ही कल्पना नहीं हैं और न असाध्य ही हैं, परन्तु बहुत कठिन हैं । आजकलके प्राणी बहुत कम कर सकते हैं । तथापि इस आदर्शको सामने रखना और भरसक इसके अनुसार निरन्तर अथक प्रयत्न करते रहना चाहिये । इससे बहुत लाभ होगा । और सीधे तीन काम हैं—(१) भगवान्‌का नाम-जप, (२) बाहरी पापोंका बिल्कुल त्याग और (३) भगवान्‌की दया-पर विश्वास । इनसे सारी बातें आप ही ठीक हो जायँगी । इनमें भी तीनों न हों तो दो करें, नहीं तो कम-से-कम एक भगवन्नामका जप-स्मरण निरन्तर करते रहनेकी कोशिश करनी चाहिये । कलियुगमें केवल क्रियासे तारनेवाला, महान् फल देनेवाला भगवन्नाम ही है । और सारे साधनोंमें भावकी आवश्यकता है । नाम भावसे, कुभावसे कैसे भी लिया जाय, कल्याणकारी ही है । अवश्य ही भावका तिरस्कार नहीं करना चाहिये । प्रत्येक क्रियामें, जहाँतक हो ऊँचे-से-ऊँचा भाव, पूरी विधि तथा बाहरी क्रिया—तीनोंका ही खयाल रखकर तीनों ही करने चाहिये । 'हारेको हरिनाम' है ।

असलमें तो भगवान्‌का भजन करना चाहिये । जो भजन करता है, वही संसारसे तरेगा और उसीको सुख-शान्ति प्राप्त होगी । बाहरी स्वाँगसे तो अन्तमें दुःख ही मिलेगा । झूठमूठ धनी सजनेपर

जैसे अशान्ति और दुःख बढ़ते हैं, झूठे गर्भसे जैसे यादववंशका नाश करनेवाला मूसल पैदा होता है, वैसे ही बाहरी स्वाँगसे--दम्भसे तो दुःख ही पैदा होता है । मनुष्यका एकमात्र सच्चा कर्तव्य होना चाहिये भगवान्‌में प्रेम करना । भगवान्‌को छोड़कर किसी भी वस्तुमें अनुराग न हो, तथा निरन्तर भगवान्‌का भजन होता रहे । अनुराग होनेसे आप ही भजन होगा ।
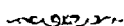
(४६)

भगवद्दर्शनके साधन

····मैंने 'कल्याण' में यह लिखा भी था और मेरा दृढ़ विश्वास भी है कि आजकल भी श्रीभगवान्‌के दर्शन अवश्य होते हैं । कालका तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता, जब कि भगवान् सर्वकालमें हैं । रही दर्शनकी बात सो अबसे कुछ ही समय पूर्वके ऐसे अनेकों महात्माओंके चरित्र मिलते हैं जिनको श्रीभगवान्‌के दिव्यदर्शन हुए हैं । श्रीतुलसीदासजी आदिके चरित्र प्रसिद्ध हैं । जब भगवान् सर्वकालमें हैं और कुछ ही समय पूर्व भक्तोंको उनके दर्शन हुए थे तब आज क्यों नहीं हो सकते ? अतएव यह दृढ़ विश्वास करना चाहिये कि दर्शन होते हैं । यह विश्वास ही सबसे पहला साधन है; जिनको दर्शनमें विश्वास ही न होगा, वे इच्छा और साधना ही क्यों करेंगे ?

× × × ×

भगवान्‌के दर्शनमें कोई साधन वास्तवमें कारण है ही नहीं ।

ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है जिसके बदलेमें भगवान्के दर्शन मिल सकें। भक्तलोग 'कैवल्यमोक्ष' के मूल्यपर भी दर्शनको—यथार्थ दर्शनको—अधिक-से-अधिक सस्ता ही समझते हैं। यानी मोक्षका त्याग करनेपर भी दर्शन मिल जायँ तो सस्ते ही मिले। यथार्थ दर्शनसे मेरा मतलब भगवान्के दिव्यतम सच्चिदानन्दमय विग्रहसे है, जो ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठा है। मायिक विग्रहके दर्शन होना सहज है, परन्तु सच्चिदानन्दविग्रहके अत्यन्त कठिन हैं। जिस समय भगवान् सच्चिदानन्दविग्रहरूपमें प्रकट होते हैं उस समय भी उन्हींको यथार्थ दर्शन होते हैं, जिनके सामनेसे वे अपनी योगमायाको हटा लेते हैं। इस दर्शनमें जो आनन्द है, उस आनन्दके सामने ब्रह्मानन्द भी तुच्छ हो जाता है। इसीसे ज्ञानियोंके शिरोमणि जनक भगवान् श्रीरामकी माधुरीको देखकर प्रेमाश्रुनयनोंसे पूछने लगे कि ये कौन हैं, क्योंकि इन्हें देखते ही विदेहराज जनककी दशा कुछ और ही हो गयी—

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥

इसीलिये श्रीकृष्णके सौन्दर्यका वर्णन करते हुए कविने यथार्थ ही कहा है कि 'जौ लौं तोहि नंदको कुमार नाहिं दृष्टि परयो तौ लौं तू बैठि भले ब्रह्मको विचारि ले।'

इतने दुर्लभ होनेपर भी भगवान्की कृपासे ये दर्शन सहज ही हो सकते हैं, और भाग्यवानोंको हुए हैं, इसमें भी कोई सन्देह नहीं।

आपने सुगम रास्ता पूछा सो पहली बात तो यह है कि

भगवान्‌की कृपापर दृढ़ विश्वास किया जाय और उनकी कृपाके बलपर मनमें यह निश्चय किया जाय कि दर्शन अवश्य होंगे।

२—दर्शनके लिये गोपीजनोंकी भाँति परम कातर हो जाना और तन, मन, धन सबको तुच्छ समझकर केवल दर्शनके लिये ही उत्कण्ठित रहना।

३—प्रह्लादकी भाँति भगवान्‌के लिये बड़े-से-बड़ा कष्ट सहन करनेको तैयार रहना और आनन्दसे सहना।

४—भरतजीकी भाँति ध्यानसहित जप करते हुए निरन्तर प्रतीक्षामें आकुल रहना।

५—शबरीकी भाँति पल-पलमें आतुर होकर राह देखना और भूख-प्यास भूल जाना।

६—सुतीक्ष्णजीकी भाँति प्रेममें मत्त हो जाना।

७—मीराकी भाँति चरणामृतके नामपर विषपानके लिये भी तैयार रहना।

८—श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी भाँति विरहकातर होकर दिन-रात फुफकार मार-मारकर रोना।

९—बिल्वमंगलकी भाँति भगवान्‌को हृदयमें बाँध रखना।

१०—अर्जुनकी भाँति अपने जीवनको उनके अर्पण कर देना।

इसी प्रकार और भी अनेकों भाव हैं और ये सभी अधिकारी-भेदसे दुर्लभ या सुलभ हैं। तथापि यों तो ये सभी कठिन हैं। सुगम बात एक यह है कि भगवान्‌को अपना परम प्रेमी प्रियतम मानना और उनसे मिलनेके लिये हृदयमें नित्य-नवीन परन्तु एक ही

लालसाका सदा जाग्रत् रहना। जिस क्षण यह लालसा हमारे मनमें किसी भी दूसरे उपायसे शान्त न होनेवाली बेचैनी उत्पन्न कर देगी, उसी क्षण भगवान्‌के दर्शन हो जायँगे। इसमें सबसे बड़ी कठिनता भगवान्‌को सबकी अपेक्षा बढ़कर—प्रियतमोंमें भी परम प्रियतम मान लेना है। यह मान्यता—यह सम्बन्ध जब स्थिर हो जायगा, तब लालसा उत्पन्न होते देर नहीं लगेगी। और यह प्रेमपूर्ण लालसा एक बार उत्पन्न होनेपर फिर प्रतिक्षण बढ़ती ही रहती है। यह कभी कम तो होती ही नहीं। क्योंकि पल-पलमें बढ़ना ही प्रेमका स्वरूप है। अतएव मेरी समझमें तो यही बात सबसे उत्तम और सुगम मालूम होती है कि आप सबसे पहले श्रीभगवान्‌को अपना परम प्रियतम बनानेकी प्रबल चेष्टा कीजिये। भगवान्‌के अनन्त अपार गुणातीत गुण, उनके दिव्य माधुर्य, प्रेम, सौन्दर्य, ऐश्वर्य, ज्ञान, बल, श्री आदिका मनन—बार-बार उनका ध्यान, उनके पवित्र नामका सतत जप करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और उनमें 'प्रियतम' भाव बढ़ता है। ज्यों-ज्यों प्रियतम भाव बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उनके स्मरण और ध्यानमें अधिक-अधिक आनन्द आता है, और त्यों-ही-त्यों स्मरण और ध्यान जीवनका स्वभाव-सा बनता जाता है। फिर उनकी अस्पष्ट झाँकी होने लगती है। परीक्षाएँ भी कभी-कभी हुआ करती हैं। उपदेवताओंके उपद्रव भी होते हैं परन्तु भगवान्‌की कृपाका भरोसा रखनेसे सारे उपद्रव शान्त हो जाते हैं, और अन्तमें 'परम प्रियतम'—इस दुर्लभ भावकी प्राप्ति होती है। बस, इस परम प्रियतम भावकी प्राप्तिके साथ ही परम प्रियतम भगवान्‌के मङ्गलद्वार खुल जाते हैं।

फिर लालसा उत्पन्न होती है, और वह देखते-ही-देखते आगकी तरह क्षणोंमें ही विस्तार पाकर सारे हृदयको आक्रान्त कर डालती है। इसी शुभ वेलामें योगमायाका पर्दा हटता है; भक्तके सामने भगवान्‌का दिव्यविग्रह अनन्त चन्द्रमाओंकी सुधाभरी ज्योत्स्नाको, अनन्त सूर्योंके प्रकाशको, अनन्त कामदेवोंके सौन्दर्यको अनन्त दिव्य देवोंके दिव्यत्वको अपनी दिव्य ज्योत्स्ना, दिव्य सुशीतल तेज, दिव्य सौन्दर्य और दिव्यतम दिव्यत्वसे दलन करते हुए प्रकट होता है। दिव्यके संसर्गमें आते ही भक्तका देह, उसका प्रत्येक अङ्ग उतने कालके लिये दिव्य हो जाता है, और वह फिर दिव्य नेत्रोंसे दिव्य आँसू बहाता हुआ मन्त्रमुग्धकी भाँति अपने परम प्रियतम दिव्यातिदिव्य परम दिव्यतम सौन्दर्यको निरख-निरखकर सदाके लिये अनन्त आनन्दके अपार अमृतसागरमें डूब जाता है। उसकी उस समयकी स्थितिको वही जानता है परन्तु वह भी कह नहीं सकता, क्योंकि उस समयका—वहाँका सभी कुछ मन, बुद्धि, वाणीसे परेका दृश्य होता है।

बस, संक्षेपमें यही आपके पत्रका उत्तर है। आपने मुझको संतके नामसे सम्बोधन करके भूल की है। मैं तो संतोंकी चरण-धूलका भिखारीमात्र हूँ। बहुत देरसे पत्रका उत्तर दिये जानेके कारण पुनः क्षमा चाहता हूँ। सम्भव है इसमें भी लीलामयकी कोई लीला हो।
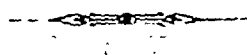
भगवत्कृपापर विश्वास

……से कहिये । घबरावे नहीं । घबराना तो भगवान्‌की दयापर अविश्वास करना है । वे परम मङ्गलमय हैं । वे जो कुछ करते हैं, परम कल्याण ही करते हैं । हमलोग असलमें भगवान्‌की कृपा नहीं चाहते । भगवान्‌की व्यवस्थाको—जो सर्वथा, सर्वदा हमारा कल्याण करनेवाली ही है (चाहे कड़वी दवाके समान कभी-कभी खारी भले ही लगे)—स्वीकार नहीं करते । हम चाहते हैं—अपनी बुद्धिमें जची हुई अनुकूलताको, जो समय-समयपर हमारा अमङ्गल करनेवाली होती है ।

हम भगवान्‌की कृपाका जो अंश हमें अनुकूल दीखता है, उतनेहीको चाहते हैं, इसीसे उनकी पूर्ण कृपासे वञ्चित रह जाते हैं ।……को क्या सभीको यही रोग है । इसीसे इतनी पीड़ा है । यह पीड़ा अपनी ही भूलसे पैदा की हुई है । श्रीभगवान्‌पर विश्वास रखकर उनका नाम-जप करना चाहिये । और उनकी कृपापर भरोसा करके अपनेको सर्वतोभावसे उन्हींपर छोड़ देना चाहिये । ऐसा न हो सके तो भी नाम-जप ही करना चाहिये । जैसा भाव हो, उसीसे कल्याण होगा—आंशिक कृपाके दर्शन होंगे और सांसारिक वासनाएँ किसी अंशमें पूर्ण होंगी । परन्तु इसमें घाटा यही रह जायगा कि शीघ्र ही भगवत्प्रेमकी प्राप्ति नहीं होगी ।

× × × ×

……से कहना चाहिये बने जितना नाम-जप बढ़ायें ।

नाना प्रकारकी मानसिक चञ्चलतासे ध्यान नहीं हो पाता, इससे घबरायें नहीं। विश्वास करके जप नियमपूर्वक अधिक करनेकी चेष्टा करें। भविष्यको निराशामय देखना तो भगवान्पर अविश्वास करना है। इसलिये बहुत प्रसन्न रहियेगा, भगवान्की कृपापर विश्वास रखियेगा।

---

(४८)

भगवत्कृपापर विश्वास

मान और धनकी चाह किसे नहीं होती। संसारमें साधारणतया सभीको होती है। जिनको नहीं होती, वे अतिमानव हैं—महापुरुष हैं। इस दृष्टिसे यदि आपको धन-मानकी चाह है और वह आजकल और भी बलवती हो रही है तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आश्चर्य तो तब होता जब अंदर छिपी हुई चाह अंदर-ही-अंदर दबकर मर जाती, उसका अस्तित्व ही नष्ट हो जाता!

जीवके अनन्त जन्मोंके भोगोंके संस्कार मनमें रहते हैं; उन संस्कारोंको लिये हुए वह मनुष्य-शरीरमें आता है; यहाँ आनेपर यहाँकी परिस्थितिके अनुसार किसी-किसीके वे पुराने संस्कार नये प्रतिकूल संस्कारोंसे दब जाते हैं और किसी-किसीके अनुकूल नये संस्कारोंका बल पाकर विशेपरूपसे बढ़ जाते हैं। यह स्मरण रखना चाहिये कि अनुकूल सहायता और शक्ति मिलनेसे पूर्वसंस्कारोंका बल और विस्तार बहुत बढ़ जाता है; क्योंकि उनकी सारी शक्तियोंको चारों ओरसे विकसित होनेका अवसर और सुभीता मिल जाता है। परन्तु प्रतिकूल बाधक शक्तिका सामना होनेपर पूर्वसंस्कारोंका

बल बहुत क्षीण हो जाता है। कारण, उनको बाधक शक्तिका सामना करना पड़ता है, जिससे उनकी शक्तिका क्षय होता है और इस युद्धमें अपनी शक्तिके स्वाभाविक विकास और विस्तार-का अवसर और सुभीता नहीं मिलता। यही नियम सबके लिये लागू होता है। अतएव हमारे सञ्चित कुसंस्कार यहाँ जब सत्सङ्ग, स्वाध्याय, सच्छिक्षा, सद्विचार, सद्वस्तुसेवन और भगवान्के भजनके प्रतापसे कुछ दब जाते हैं, तब हम समझ बैठते हैं कि हमारे सब कुसंस्कारोंका नाश हो गया और हम सर्वथा शुद्ध हो गये। होता यह है कि कुसंस्कार नष्ट नहीं होते, वे दब जाते हैं, दुबक जाते हैं, छिप जाते हैं और अनुकूल शक्तिका सहारा न मिलनेसे प्रतिक्षण क्षीण होते चले जाते हैं। ऐसी अवस्थामें यदि सत्सङ्ग, सद्विचार, भजन आदि उपर्युक्त साधन चालू रहते हैं तब तो कुसंस्कारोंको सिर उठानेका मौका नहीं मिलता और अन्तमें वे भगवत्-शरणागति या तत्त्व-ज्ञानोदयके प्रभावसे मर जाते हैं; परन्तु जबतक ऐसा नहीं होता तबतक साधन न होनेसे अनुकूल वातावरण पाते ही उन्हें सिर उठानेका, और बाधा न पाने तथा बाहरी सहायता मिल जानेसे प्रबलरूपसे आक्रमण करके अपनी अबाध सत्ता जमानेके लिये कोशिश करनेका मौका मिल ही जाता है। ऐसी दशामें बड़े-बड़े नामी-गिरामी तपस्वी और साधकोंका पतन देखा जाता है, हमलोग तो किस बागकी मूली हैं!

मनुष्यको भगवान्ने एक विवेकशक्ति दी है, जिसके द्वारा वह भले-बुरेका निर्णय कर सकता है। यह विवेकशक्ति मनुष्यमात्रमें होती है, चाहे उसके पूर्वसञ्चित कर्म कितने ही अशुभ क्यों न हों।

मनुष्यको परमात्माकी यह खास देन है। यह विवेकशक्ति भी परिस्थिति-के अनुसार जाग्रत्-सुप्त और तीव्र-मन्द हुआ करती है। जिस मनुष्यके आचरण जितने ही शुद्ध होते हैं, जिसके इन्द्रियद्वार जितने ही सत्के सेवनमें लगे रहते हैं, उनकी विवेकशक्ति उतनी ही जाग्रत् और तीव्र रहती है। जरा-सा बुरा सङ्कल्प मनमें उठते ही यह विवेकशक्ति उसे यथार्थरूपमें उस सङ्कल्पका स्वरूप बतलाकर उसे कार्यान्वित न करनेका आदेश करती है। इसीको 'अन्तर्ध्वनि' या 'आत्माकी ध्वनि' कहते हैं। कभी पहले-पहल कोई मनुष्य कुसङ्गवश चोरी या व्यभिचार करनेका मन करता है, तब अंदरकी यह आत्माकी आवाज उससे कहती है—'यह पाप है, बुरा कर्म है; इसे न करो।' परन्तु उस मनुष्यका वर्तमान कुसङ्ग यदि बलवान् होता है तो वह उसके प्रभावमें आकर अन्तरात्माकी इस आवाजकी अथवा विवेकशक्तिके निर्णय और आदेशकी अवहेलना करके उस असत् कर्मको कर बैठता है। जहाँ एक बार ऐसा हुआ, वहीं उसका नया संस्कार उत्पन्न होकर विवेकशक्तिसे लड़ने लगता है। कुछ समयतक तो ऐसा चलता है; परन्तु यदि कुसङ्ग और कुकर्म चालू रहते हैं तो विवेकशक्ति मन्द पड़ जाती है, वह सो-सी जाती है, ठीक निर्णय नहीं कर पाती और न ठीक आदेश या परामर्श देनेकी शक्ति रखती है। यही गीतोक्त राजसी बुद्धि है, जो धर्म-अधर्म और कर्तव्य-अकर्तव्यका यथार्थ निर्णय नहीं कर पाती। इसके बाद होते-होते नवीन असत् संस्कारोंका समूह एकत्र होकर इस विवेकबुद्धिको सर्वथा छिपा देता है और पूर्वजन्मार्जित कुसंस्कारोंको जगाकर—दोनों मिलकर एक नयी मोहाच्छादित बुद्धि उत्पन्न करते हैं, जो प्रत्येक

कुसंस्कार और कुकर्मको सत्संस्कार और सत्कर्म बतलाकर उनका समर्थन करती है। यही गीतोक्त तामसी बुद्धि है, जिसकी महिमाका बखान करते हुए भगवान् कहते हैं—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

(१८। ३२)

'अर्जुन! जो बुद्धि तमोगुणसे ढकी हुई अधर्मको धर्म बतलाती है और सभी बातोंमें उलटा निर्णय करती है, वह तामसी है।' इस तामसी बुद्धिके राज्यमें मनुष्य विपरीतगामी स्वभावतः ही हो जाता है, उसे अपने दोषपूर्ण कामोंमें दोष नहीं दीखता। कहीं पूर्वके शुभ संस्कार कभी मौका पाकर चुपके-से उसे चेताते हैं, दबे हुए सच्चे हितैषीकी भाँति उसे सावधान करते हैं, तब क्षण-कालके लिये उसे दुःख होता है, वह मोहसे निकलना चाहता है; परन्तु तामसी बुद्धि उससे सहजमें ऐसा करने नहीं देती। वह बड़े सुन्दर-सुन्दर मोहक दृश्य दिखा-दिखाकर उसे अपने ही आदेशके अनुसार चलनेके लिये ललचाती है, और वह मनुष्य उसीको उत्तम और लाभप्रद मानकर उसी मार्गपर चलने लगता है। पहलेके किये हुए अपने शुभ आचरणोंको वह 'भूलमें जीवन व्यर्थ खोया गया' समझता है, और वर्तमानके अशुभ आचरणोंको 'जीवनका वास्तविक लाभ'। पूर्वके बुरे संस्कारोंकी पूर्ण जागृति, और सात्त्विक बुद्धि अथवा विवेकशक्तिकी लुप्तप्राय स्थितिके साथ ही तामसी बुद्धिके पूर्ण प्रभावकी इस शोचनीय अवस्थासे भगवान्‌की कृपासे ही मनुष्य निस्तार पा सकता है।

इधर कई बातें ऐसी हो गयीं जिन्होंने आपके कुसङ्ग और कुविचारोंकी पुष्टि की (चाहे वह अज्ञानकृत ही हो) । इस स्थितिमें आप तो क्या, अच्छे-अच्छे लोगोंका मन डगमगा जाना सम्भव है। परन्तु विचारशील पुरुषको यहीं तो अशुभके साथ युद्ध करना है। यही तो लड़ाईका मौका है। इस लड़ाईमें विजय पाना ही पुरुषार्थ है। यही परम साधन है। 'क्या तुच्छ धन या मानकी इच्छा भगवान्के पथपर चढ़े हुए पुरुषको वापस लौटाकर नीचे गिरा सकती है ?' ऐसा मनमें प्रश्न करके आत्माके निश्चयसे यह दृढ़ उत्तर देना चाहिये 'नहीं गिरा सकती'। बुद्धि कितनी ही तामसी हो जाय, यदि आत्मा जाग्रत् रहे, बुद्धिके साथ न मिल जाय, तो बुद्धिका तमोगुण ठहर नहीं सकता।

आप घबराइये नहीं, भगवान्का भरोसा रखिये। आत्मामें सत्साहस और आत्मनिर्भरता पैदा कीजिये। प्रलोभनोंको पछाड़िये। भगवान् मङ्गलमय हैं। उनके कल्याणमय वरद हस्तको अपने मस्तक-पर देखिये, अनुभव कीजिये। वे रक्षा करनेको तैयार हैं। घबराकर उनका तिरस्कार न कीजिये। वे सतत आपके साथ हैं, कहते हैं—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।

(गीता १८ । ५८)

—फिर डर काहेका ? हाँ, हिम्मत हार दी तो जरूर डर है। ये मनमें घुसे हुए चोर भाग जायँगे, यदि आपको भगवान्के आश्रयमें जाते देखेंगे। ये आपको रोकना चाहेंगे, लोभ और भय दिखाकर पथभ्रष्ट करना चाहेंगे; परन्तु यदि आप सजग, सावधान और निश्चयपर अटल रहे तो ये निराश होकर आपके हृदयको छोड़कर कोई दूसरा घर ढूँढ़ेंगे !

भगवान्‌का नाम किसी भी भावसे लीजिये। मनमें प्रसन्नताका अनुभव कीजिये, भगवान्‌की कृपाको अपने ऊपर वरसते देखकर! देखिये, देखिये—अनवरत अपार वर्षा हो रही है, भगवत्कृपाके सुधासिन्धुके मधुर जलकी! देखकर शीतल, शान्त हो जाइये—नहाकर सारे पाप-तापोंको धो डालिये। पीकर अमृतमय—आनन्दमय, शान्तिमय स्वयं वन जाइये। विश्वास कीजिये—ऐसी ही वात है, इसमें तनिक भी वनावट नहीं है, सत्य है—सदा सत्य है। जो विश्वास करेगा, वही निहाल हो जायगा।

(४९)

प्रतिकूल स्थितिमें प्रसन्न रहना

....प्रतिकूल समयमें सभी कुछ सम्भव है। परन्तु इन सव वातोंके होते हुए भी आप-सरीखे विचारशील पुरुषके चित्तमें अशान्ति क्यों रहनी चाहिये। वेदान्त, भक्ति और कर्म—तीनों ही दृष्टियोंसे चित्तका निरुद्वेग रहना उचित है। वर्तमान दुःस्थिति कर्मका फल है, तो उसका भोग अवश्य ही सिर चढ़ाकर प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करना चाहिये। ज्ञानकी दृष्टिमें जहाँ दृश्य-जगत्‌का ही अभाव है, वहाँ जगत्‌की तुच्छातितुच्छ स्थूल स्थितियोंकी तो सत्ता ही कहाँ है। स्वप्नका दुःख जागे हुए बुद्धिमान् पुरुषको क्यों होना चाहिये। अनुकूलता, प्रतिकूलता सारी ही असत् हैं, अज्ञानसे आरोपित हैं। निन्दा-स्तुति, मानापमान, लाभ-हानि—सभी तो मोहके कार्य हैं। इनसे बुद्धिमान्‌की चित्तवृत्तिमें विकार क्यों होना चाहिये।

सच्चे भक्तकी दृष्टिमें तो सभी कुछ प्रियतम प्रभुकी देन है। वह तो प्रत्येक स्थितिमें प्रियतमका कोमल मधुर स्पर्श पाकर सुखी होता है। किसी भी स्वाँगमें आये, आता वह प्रियतम ही है। फिर भय-चिन्ता किस बातकी? यदि उसका विधान मानें तो उस मङ्गलमयका प्रत्येक विधान हमारे मङ्गलके लिये होता है। फिर उसका किया हुआ विधान होनेसे हमारे लिये प्रतिकूल भी अनुकूल हो जाना चाहिये—क्योंकि इसीमें उसको सुख है, ऐसी ही उसकी इच्छा है। और विचार करके देखें तो विधानके रूपमें भी स्वयं विधाताका ही प्रकाश है।

आपको किसी वैषयिक अनुकूल समयकी आशा और प्रतीक्षा क्यों करनी चाहिये। यदि वैसा अनुकूल समय न भी आया तो आपका क्या हर्ज है। प्रत्येक प्रतिकूलतामें ही अनुकूलताका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिये। श्रीभगवान्‌के इन शब्दोंको याद रखना चाहिये—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥
(गीता ५। २०)

समस्त जीवनके वेदान्ताभ्याससे लाभ उठानेका यही तो अवसर है।

फिर भगवान्‌ने भागवतमें एक जगह ऐसा भी कहा है कि 'जिनपर मैं अनुग्रह करता हूँ, उनका धन क्रमशः हरण कर लेता हूँ। और अपनी कृपाके द्वारा उनके प्रत्येक उद्योगको असफल

करता हूँ।' अतएव आपको तो हरेक दृष्टिसे ही अन्तरमें प्रसन्न, निर्विकार, सम और शान्त रहना चाहिये। यह पत्र मैं आपके लिये ही लिखता हूँ। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यथासाध्य उद्योग नहीं करना चाहिये, अथवा कष्टमें पड़े हुए घरवालोंके कष्टमें हिस्सा नहीं बँटाना चाहिये। करना सब चाहिये और पूरे बलसे करना चाहिये। परन्तु करना चाहिये नाटकके कुशल पात्रकी भाँति ही। एक बात और ध्यानमें आ गयी। चित्त बहुत ही घबरावे तो श्रीमद्भागवतके आठवें स्कन्धके तीसरे अध्यायका कुछ दिनोंतक रोज लगातार आर्तभावसे पाठ करना चाहिये। इससे अद्भुत कार्य होता है; अवश्य ही यह बहुत ऊँचा भाव नहीं है।

खर्च यथासाध्य घटाना चाहिये और काम-काजके लिये भी प्रयत्न करते रहना चाहिये। नामस्मरण तो सतत चालू रहना ही चाहिये।

घबराना नहीं चाहिये। याद रखिये, प्रभु सदा आपके साथ हैं। उनकी कृपासे सब कुछ हो सकता है। विषाद करके उनका अपमान नहीं करना चाहिये।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।

(गीता १८। ५८)

उनका आश्रय लेनेपर, उनमें चित्त लगानेपर उनकी कृपासे सारे कष्टोंसे सहज ही पार हुआ जा सकता है।

(५०)

सब भगवान्की पूजाके लिये हो

भाई साहब ! श्रीभगवान्को छोड़कर संसारमें सभी कुछ दुःखमय है। यहाँ जो सुख दीखता है, वह यदि वास्तविक है तो भगवान्के सुख-समुद्रका कोई एक कणमात्र है। और यदि वास्तविक नहीं है तो सुखके रूपमें दुःख ही सामने आ रहा है। उसका रूप वैसे ही छिपा है, जैसे किसीके विनाशके लिये बनायी हुई मिठाईमें विष छिपा रहता है।

श्रीभगवान्के सम्बन्धसे ही सबका सम्बन्ध है, श्रीभगवान्के प्रियत्वसे ही सबमें प्रियभाव है। भगवान्के बिना तो यह जगत् भयङ्कर है। चारों ओरसे काटनेको दौड़ता है। ऐसे भगवत्-सम्बन्ध-रहित विषयोंमें जो ममत्व और सुखबुद्धि हो रही है, यही मोह है। भगवान्ने भोगोंको 'दुःखयोनि' दुःख उपजानेवाले बतलाया है। चाहे वे एक व्यक्तिके लिये हों या समस्त विश्वके लिये। जो मनुष्य अपने सुखके लिये भोगादि न चाहकर समष्टिके लिये चाहता है, वह अवश्य ही उदार और त्यागी है, परन्तु वह भी है यथार्थमें भूलमें ही। भूलमें न होता तो 'दुःखयोनि' विषयोंमें उसे सुख दीखता ही कैसे ? भोगोंसे वैराग्य हुए बिना यथार्थ भगवत्प्रेमका सच्चा विकास नहीं होता। जबतक मनोभूमिमें विषयानुरागका गंदा कीचड़ भरा हुआ होता है, तबतक उसमें बोया हुआ प्रेमका बीज उगता नहीं। उगना तो दूर रहा, प्रेमका यथार्थ बीज वहाँ पहुँचता

ही नहीं। चित्तभूमि जब वैराग्यके द्वारा शुद्ध हो जाती है तभी उसमें भगवत्प्रेमका वीज वोया जा सकता है और तभी वह अङ्कुरित, पुष्पित और फलित होता है। परन्तु इस वैराग्यका उदय भी अन्तःकरणकी शुद्धिकी अपेक्षा रखता है और वह होती है भजनसे। भजन ही अन्तःकरणके मलको जला डालनेवाली आग है। इसलिये भजन करना चाहिये, और विचार तथा भगवत्प्रार्थनाके द्वारा भोगोंसे वैराग्य उत्पन्न करते रहना चाहिये। जब भगवत्प्रेमकी झाँकी हो जायगी तब जगत्के सभी सुख नीरस, नाचीज़ और हेय लगने लगेंगे। फिर सहज ही उनसे मन हट जायगा। भक्तवर नागरीदासजी (किशनगढ़के भगवद्भक्त महाराज) ने भगवत्प्रेमकी जरा-सी झाँकी होनेके बाद यह पद गाया है। इसमें अपने पहले जीवनके लिये कितना पश्चात्ताप किया है, देखिये—

किते दिन बिनु वृन्दावन खोये।
यों ही वृथा गये ते अबलों राजस-रंग समोये॥
छाड़ि पुलिन फूलनिकी सैया, सूल-सरनि सिर सोये।
भीजे रसिक अनन्य न दरसे, विमुखनिके मुख जोये॥
हरि विहारकी ठौर रहे नहि अंत अभाग्य बल बोये।
कलह सराय बसाय भट्यारी माया राँड बिगोये॥
इकरस ह्याँके सुख तजिके ह्वाँ कबौं हँसे कबौं रोये।
कियो न अपनो काज, पराये भार सीसपर ढोये॥
पायो नहिं आनंद लेस मैं सबै देस टकटोये।
नागरिदास बसे कुंजनमें जब सब विधि सुख भोये॥

यह है राजाके आनन्दका असली स्वरूप। परन्तु यह असली रूप देख पड़ता है—भोगोंके मायाजालसे छूटनेपर ही।

मेरा इससे यह मतलब नहीं है कि घर-बार छोड़कर कहीं चले जाना चाहिये। कोई कहीं भी जाय, जबतक मनमें राग (आसक्ति) है, तबतक फँसावट है ही। सबकी अपनी-अपनी अलग दुनिया है और अलग-अलग छोटे-बड़े क्षेत्र हैं। सम्राट् अपने बड़े भारी राज्यके कार्योंमें राग-द्वेष करता है, दूकानदार छोटी-सी दूकानदारीके सम्बन्धसे उतनी-सी दुनियामें, और बच्चा खेलके खिलौनोंमें। दुखी सभी हैं, रोना सभीको है—क्योंकि प्रतिकूलताके दर्शन सबको होते हैं, प्रतिकूलतामें ही दुःख और द्वेष है। इसीलिये घर न छोड़कर घरकी मालिकी छोड़नी चाहिये। अपने सब कुछपर श्रीभगवान्‌का अधिकार स्थापित करके भगवान्‌की पूजा करनेके लिये घरमें रहना चाहिये। घर भगवान्‌का पूजा-मन्दिर बने, हम पुजारी बनें। आसक्ति भगवान्‌में हो, घरमें नहीं; घरकी चीजें प्यारी हों तो इसीलिये कि वे भगवान्‌की हैं, भगवान्‌की पूजाके लिये हैं। पूजाके लिये न हों तो—

> जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
> सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ॥
>
> × × × ×
>
> अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं।

जैसे घर भगवान्‌का, वैसे ही यह सारा जगत् भगवान्‌का—बस इसी नाते जगत्‌में रहना, जगत्‌के कार्य करना; प्यारे भगवान् जिस कार्यमें लगा दें उसीको करना। आसक्ति भगवान्‌में—कार्य भगवान्‌का। वे चाहे जगत्‌के विकासके रूपमें अपनी सेवा करावें या विनाशके रूपमें। याद रखनेकी इतनी ही बात है—भोगोंमें

सुख नहीं, सुख एकमात्र भगवान्‌में है । जगत् भोगोंसे सुखी होगा, यह भ्रान्त धारणा है । सुखी होगा भगवान्‌से । चाहे भोग न रहें—उनकी पूजाके लिये रहें और वे रखना चाहें तो वह भी उत्तम है—असलमें सेवा भगवान्‌की करनी है, भोगोंकी नहीं । भोगोंसे भगवान्‌को रिझाना है, भगवान्‌से भोगोंको पाना नहीं !

इसलिये मुझे तो बस, आप बड़े हैं, यही आशीर्वाद दीजिये कि भगवान्‌के चरणोंमें अपनेको निवेदन कर सकूँ और उनके इङ्गितके अनुसार कार्य करता हुआ उनके नामका स्मरण करता रहूँ ।

(५१)

सच्चा धन

तुम्हारा पत्र मिला, सब समाचार जाने । भैया ! देखो, भगवान् सर्वत्र हैं, सब समय हैं, उनको देखो । उनकी दया सब ओर सर्वदा बरस रही है, जाओ, उसमें नहा लो ! शोक, चिन्ता, विषाद, भय, निराशा और आलस्यको छोड़ दो । भगवान्‌की सन्निधिमें ये कहीं रह ही नहीं सकते । संसारके भोगोंमें—धन-ऐश्वर्य, स्त्री-पुत्र, मान-बड़ाई आदिके मोहमें ज्यादा मत फँसो । फँसोगे—रोना पड़ेगा । फँसे हो, इसीलिये रोते हो । इनके हानि-लाभमें शोक-हर्ष न करो । मूर्ख ही सांसारिक भोगोंके आने-जानेमें हँसते-रोते हैं । पद-पदपर भगवान्‌को, और भगवान्‌की दयाको देखो । शरत्पूर्णिमाके चन्द्रमाकी चाँदनीकी तरह भगवान्‌की दया

सर्वत्र छिटक रही है । शरीर कुछ बीमार है, दवा लेते हो सो ठीक ही है । बड़ी बीमारी तो भवरोग है । इस शरीरका रोग कदाचित् एक बार मिट भी गया तो क्या होगा । मौतके मुँहसे कदापि नहीं बच सकोगे । भवरोगका नाश करो, उस लंबे रोगकी जड़ काट दो । फिर नित्य निरामय हो जाओगे । कोई रोग रह ही नहीं जायगा । यह मत खयाल करो कि हम बड़े पापी हैं; हमें भगवान् कैसे अपनावेंगे ? उनका द्वार सबके लिये खुला है । दीनोंके लिये विशेष रूपसे ! जो पूर्वकृत पापोंके लिये पछताते हैं और अपनेको पापी, अनधिकारी तथा दीन मानकर भगवान्के चरणोंमें जाते डरते हैं, भगवान् उन्हें आकर ले जाते हैं, परन्तु जो पुण्यके घमंडमें भगवान्के द्वारपर जाकर भी ऐंठे रहते हैं, उनके लिये खुले द्वार भी बंद हो जाते हैं । भगवान्को दैन्य प्रिय है, अभिमान नहीं ! इसलिये जहाँतक बने, धनका और इज्जतका अभिमान छोड़कर सबका सम्मान करो । तुम्हारे अंदर यह एक दोष है । तुम कभी-कभी धनके कारण अपनेको दूसरोंसे कुछ बड़ा मान लेते हो; इससे तुम्हारे पारमार्थिक पथमें बाधा आ जाती है । धन भी कोई महत्त्वकी चीज है ? यह तो राक्षसोंके पास बहुत ज्यादा था । रावणके तो सोनेकी लंका थी । सच्चा धन तो श्रीभगवान्का भजन है । उसीको इकट्ठा करो । वही धन तुम्हारे काम आवेगा । संसारी ईंट-पत्थरके धनको तो जहाँतक बने, भगवान्की सेवामें लगा दो । उसे अपना मानकर क्यों फँस रहे हो । मेरी बात मानो तो नीचे लिखी सात बातोंपर विशेष ध्यान रक्खो—

१. किसी प्राणीसे घृणा या द्वेष न करो ।

२. किसीकी निन्दा न करो ।

३. धनके कारण अपनेको कभी ऊँचा मत समझो ।

४. भगवान्‌की दयाका अनुभव करो ।

५. दु:खमें उनकी दयाका विशेष अनुभव करो ।

६. सुखमें उन्हें भूलो मत, और

७. सदा-सर्वदा उनके स्वरूपके चिन्तन और नामके जपका अभ्यास करो ।

(५२)

भजनकी महिमा तथा कुछ उपयोगी साधन

आपके तीन पत्र आ गये, मैं समयसे उत्तर नहीं दे पाया । मेरे स्वभावदोषसे आप परिचित ही हैं, फिर आप हैं भी अपने ही । ऐसी अवस्थामें आपसे क्षमा भी कैसे माँगूँ ?

मेरा फाल्गुनके अन्ततक यहाँ ठहरनेका विचार है, आप पौषमें····आकर यहाँ मिलनेको आना चाहते थे, सो बताइये कब आते हैं । पौषका महीना तो लग ही गया है । काम-काज मजेमें चलता होगा । रुपये कमाते ही होंगे । असली धन कमानेका भी कुछ खयाल रखते हैं या नहीं ? मायाकी मोहिनीमें फँसकर उसके प्रवाहमें बह न जाइयेगा । यह सत्य है और नि:सन्देह सत्य है कि किसी भी प्रकारसे भगवान्‌का थोड़ा-सा भजन किया हुआ भी मनुष्यको छोड़ता नहीं, वह स्वयं कभी नष्ट न होकर उसे बार-बार भगवान्‌की ओर प्रेरित करता रहता है और मौका पाते ही इस

लोक या परलोकमें उसे परमात्माके पावन पथमें लगा ही देता है। इसी प्रकार महापुरुषका भी सङ्ग महान् भयसे तारनेवाला होता है। आपने महापुरुषका सङ्ग किया या नहीं—इस बातका तो पता नहीं, परन्तु भगवान्का भजन तो किया ही है। यही कारण है कि वह अब भी समय-समयपर आपके चित्तमें भजनकी प्रेरणा करता है। और अपना अनुमान तो यही है कि देर-सवेर वह आपको सीधी राहपर लाकर ही छोड़ेगा। आप जरा सावधान रहेंगे और प्रवाहमें सहज ही नहीं बहेंगे, तो उसे अपने कार्यमें कुछ सुविधा होगी।

आपका यह लिखना कि 'मेरा ऐसा विश्वास है कि आपके आदेशके अनुसार करनेपर जरूर लाभ होता है' मेरे प्रति आपका अकृत्रिम प्रेम प्रकट करता है। इस प्रेमके कारण ही आपको ऐसा भासता है। मैं तो आपके इस प्रेमका ऋणी ही हूँ। वस्तुतः मैं यदि कभी कोई ऋषिप्रणीत शास्त्रोंके अथवा महात्माओंके द्वारा अनुभूत साधनसम्बन्धी बात कह देता हूँ और उसके अनुसार करनेपर किसीको लाभ होता है, तो इसमें श्रेय उन ऋषियों और संतोंको है अथवा श्रद्धानुसार साधन करनेवाले साधकको। ग्रामोफोन-के रिकार्डमें जो सुन्दर गान सुना जाता है, उसमें रिकार्डका क्या है। जो कुछ है सो गान गानेवाले, भरनेवाले और सुननेवालेके ही पुरुषार्थका फल है। मुझे तो जड रिकार्ड-सा समझना चाहिये। आपने पूछा कि मुझे किस-किस समय क्या-क्या करना चाहिये, पहलेकी भाँति रातमें या दिनमें कुछ करनेका आदेश मिलना चाहिये। सो आदेश देनेका तो मुझमें न अधिकार है, न मेरी योग्यता है। आपके प्रेमके भरोसे नम्र सलाह देनेमें सङ्कोच अवश्य ही नहीं होता

और इसी अभिप्रायसे कुछ लिखता हूँ। समय, सुविधा और चित्तकी अनुकूलता हो तो इसके अनुसार श्रद्धापूर्वक करना चाहिये (श्रद्धा फलवती तो होती ही है।)

१. दूसरेका अहित करनेकी या अहित देखनेकी भावना मनमें कभी न आने पावे। याद रखना चाहिये, दूसरेका अहित चाहनेवालेका परिणाममें कभी हित नहीं होता।
२. परस्त्रीकी ओर बुरी दृष्टि कभी नहीं होनी चाहिये।
३. व्यापारमें यथासाध्य सत्य, न्याय और परहितका खयाल रखना चाहिये।
४. लोभकी वृत्तियोंको यथासम्भव दबाना चाहिये।
५. नित्य-निरन्तर भगवान्‌के नामका स्मरण और जप करते हुए ही संसारके काम करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।
६. सबमें—खास करके जिनसे व्यवहार करना हो, उनमें परमात्माकी भावना करके मन-ही-मन उन्हें नमस्कार करना चाहिये, तथा इस तत्त्वको याद रखते हुए ही व्यवहार करना चाहिये।
७. किसी मनुष्यमें भी—खास करके सत्पुरुषमें दोषबुद्धि नहीं करनी चाहिये।
८. यथासाध्य वाणीको असत्य, परनिन्दा, परचर्चासे बचाना चाहिये और जिससे पराया अहित हो, ऐसी बात तो कहनी ही नहीं चाहिये।
९. अपनी धर्मपत्नीको प्रेमके व्यवहारसे परमात्माकी ओर लगाना चाहिये। रामायणादि पढ़नेका अभ्यास, नाम-जपका अभ्यास डलवाना चाहिये। विषयोंकी ओर प्रलोभन न

बढ़ने पावे। विषयासक्ति आपमें भी नहीं बढ़नी चाहिये।

१०. बहिनोंके साथ अधिक-से-अधिक अच्छे-से-अच्छा व्यवहार करना चाहिये।

अब कुछ खास साधन लिखता हूँ—

१. दोनों वक्त सन्ध्यावन्दन और एक गायत्रीकी मालाका जप यथासाध्य ठीक कालपर करना चाहिये।

२. प्रातःकाल पाँच माला 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्रकी शुद्ध बुद्धि प्राप्त करनेके उद्देश्यसे जपनी चाहिये।

३. रातको सोनेसे पूर्व ग्यारह माला या कम-से-कम सात माला षोडश नामके महामन्त्र (हरे राम····) की जपनी चाहिये।

४. कुत्ते और गौओंको रोज कुछ रोटी, घास तथा दीन-दुखियों-को कुछ यथायोग्य सहायता अवश्य देनी चाहिये।

५. कमाईमेंसे कुछ हिस्सा भगवान्‌की सेवाके लिये निकालना चाहिये, और उसे जमा न करके हाथोंहाथ खर्च कर देना चाहिये।
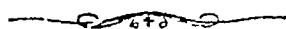
(५३)

मानसिक भजन

आपके कई पत्र मिल चुके, समयपर उत्तर नहीं लिख सका। आजकल आपका भजन अच्छा होता है तथा चित्तमें विकार भी प्रायः नहीं होते हैं सो बड़े ही आनन्दकी बात है। भजन जितना ही अधिक होगा, उतनी ही विकारोंकी मात्रा कम होती चली

जायगी। विकारोंके नाश होनेकी कसौटी है भजनका अनन्य और विशुद्ध होना। जबतक विकार रहेंगे तबतक भजनमें सर्वथा अनन्यता और विशुद्धि नहीं होगी परन्तु इन विकारोंका नाश भी भजनसे ही होगा। अतएव भजन करते रहना चाहिये। अच्छे सङ्गके प्रभावसे तथा भजनकी विशेषतासे विकार दब जाते हैं, परन्तु उनका जबतक पूरा नाश नहीं हो जाता, तबतक उनसे सदा सावधान रहना चाहिये। विकारके प्रत्यक्ष कारण प्राप्त होनेपर भी विकार न हों तब मानना चाहिये कि विकार मरने लगे हैं। जिसके मनके विकार मौकेपर उभड़ आते हैं, वह अपनेको यदि सिद्ध महात्मा मान लेता है तो उसे पछताना ही पड़ता है। अतएव विकारोंसे सदा सावधान रहिये।

श्रीभगवान्‌का भजन मनसे करनेका अभ्यास कीजिये। यह तो मनकी बदमाशी है जो वह यों समझाना चाहता है कि भगवान्‌का मनसे चिन्तन करोगे तो काम-काजमें भूल हो जायगी। अब आप दिनभर काम-काज करते हैं तो क्या दिनभर आपका मन किसी एक ही विषयमें एकाग्र रहता है? न मालूम मन कहाँ-कहाँ जाता है और आप अपना अभ्यस्त कार्य भी किया करते हैं। इसी प्रकार भगवान्‌का चिन्तन करते रहनेपर भी काम-काज हो सकेगा। बल्कि विषय-चिन्तनसे जो भाँति-भाँतिके विकार चित्तमें जाग उठते हैं, बुरे कर्मोंके लिये कामना या आसक्तिवश प्रेरणा होती है, ये सब बातें न होंगी तो काम-काज और भी अच्छी तरह होगा। थोड़ी देरके लिये मान लीजिये—कामकाजमें हर्ज ही हुआ, और उधर भगवान्‌का चिन्तन बराबर होता रहा तो विचार कीजिये वास्तवमें आपका क्या

हर्ज हुआ ? भगवच्चिन्तन ही तो जीवनका प्रधान कार्य है, इसीमें तो जीवनकी सफलता है। सब कुछ जाकर भी यह हो गया। तो सब कुछ हो गया। इसलिये मनके धोखेमें न आकर उसे निरन्तर भगवत्स्मरणमें लगाये रखनेकी कोशिश कीजिये।

(५४)

भजनका प्रभाव

वाहरकी क्रियाओंसे मेरा मतलब 'शरीरसे होनेवाले पापोंसे' था। मनसे यदि पाप न भी छूटें और वाहर शरीरसे छूट जायँ तो इस कलिकालमें इतना ही काफी है। जान-बूझकर दूसरेकी निन्दा करना, अपने स्वार्थके लिये किसीको कष्ट पहुँचाना, क्लेश पहुँचानेके लिये किसीसे दिल्लगी करना, परस्त्रीको बुरी नजरसे देखना आदि अवश्य ही वाहरके पाप हैं; यदि ये पाप किसीको खलते हों, परन्तु अभ्यासवश न छूटते हों और वह यदि इन पापोंको छोड़नेकी इच्छा और चेष्टा करता हुआ पूरे भरोसेके साथ श्रीभगवान्का एकनिष्ठ भजन करता हो तो उस भजनके प्रतापसे इन पापोंसे ही नहीं, इनसे भी वहुत वड़े-वड़े पापोंसे मुक्त होकर वह भगवान्के परमधाम-को—शाश्वती शान्तिको पा जायगा। भगवान्की सर्वशक्तिमत्ता, दयालुता और सुहृदपनपर सच्चा विश्वास और उनका एकनिष्ठ भजन होना चाहिये।

गीताके श्लोकोंका तात्पर्य मैं नहीं जानता। परन्तु अध्याय ७। ३ में आये हुए 'यत्न करनेवाले सिद्धोंमें भी कोई (कश्चित्)

ही मुझको (माम्) तत्त्वसे जानता है' इसमें 'कश्चित्' का अर्थ 'हजारोंमेंसे कोई' न लेकर यह लेना चाहिये कि ऐसे साधनामें स्थित सिद्ध पुरुषोंमें कितने ही—जो किसी भी सिद्धि तथा मुक्तितककी परवा न करके केवल श्रीभगवान्‌को ही जानना चाहते हैं, वही भगवत्कृपासे भगवान्‌को तत्त्वसे जान सकते हैं। शेष सिद्ध पुरुष तो थोड़े-थोड़े लाभमें ही रह जाते हैं। कोई जीव-तत्त्व जान लेता है, कोई कर्मके रहस्यको समझकर कर्मपर विजय प्राप्त कर लेता है, कोई भूतजयकी सिद्धि प्राप्त कर लेता है, कोई ब्रह्माके पदका रहस्य जान जाता है, कोई सर्वव्यापी स्वरूपको समझ लेता है, बहुत आगे बढ़नेवाले कोई 'ब्रह्म' के अक्षर स्वरूपको जानकर अविद्यासे मुक्त हो जाते हैं; परन्तु भगवान्‌को तत्त्वसे जानना बहुत कठिन है। यहाँ 'माम्' पदसे समग्र ब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्‌का लक्ष्य है—ब्रह्मका या किसी एकाङ्गी अन्य स्वरूपका नहीं। पहले श्लोकमें इसी बातको बतलाया है और अध्यायके अन्तमें इसीकी व्याख्या है तथा पंद्रहवें अध्यायके अन्ततक प्रकार-भेदसे इसी 'समग्र' का निरूपण है। मेरी ऐसी समझ है; यही इस श्लोकका अर्थ है, यह मेरा दावा नहीं है।

शरीर तो दिनोंदिन सभीके क्षीण हो रहे हैं। प्रतिक्षण मृत्युको प्राप्त होना ही जन्मे हुए शरीरका स्वभाव है। इसलिये भजन तो करना ही चाहिये। परन्तु काम छोड़नेकी मेरी राय बिल्कुल नहीं है। मेरी समझसे सबसे सरल साधन है नामका अभ्यास। मुखसे निरन्तर भगवान्‌के नामका उच्चारण होता रहे और हाथोंसे काम। अभ्यास होनेपर ऐसा होना खूब सम्भव है—बस, 'मुख नामकी

ओट लई है'। विश्वास होगा तो इस नामोच्चारणमात्रसे ही कल्याण हो जायगा।

संसारका स्वरूप ही संयोग-वियोगात्मक है। यहाँ तो मिलना-बिछुड़ना अनिवार्य है। इसीलिये मनुष्यको श्रीभगवान्‌से प्रेम करना चाहिये, जो न कभी बिछुड़ते हैं न मरते हैं।

(५५)

सेवा और भजन

आपका कृपापत्र मिला। आपका लिखना बहुत ही दुरुस्त है। 'भगवान्‌की याद करते हुए भगवान्‌को अर्पण करके जो कुछ भी कर्म किये जाते हैं सब भजन ही हैं।' समस्त जीव भगवान्‌के ही स्वरूप हैं, भगवान् ही इन सबके रूपमें प्रकट हैं, अतएव जीवोंकी सेवा निश्चय ही भगवान्‌की सेवा है तथा सेवा और भजन एक ही वस्तुके दो नाम हैं। इसलिये जीवसेवा भजन है इसमें जरा भी सन्देह नहीं। आप इस प्रकारकी सेवा करते हैं और करना चाहते हैं, यह बहुत ही अच्छी बात है। इसमें चार बातोंका ध्यान सदा रखना चाहिये—

(१) भगवान्‌का अखण्ड स्मरण।

(२) सब कुछ भगवान्‌के अर्पण।

(३) सब जीव भगवान्‌के ही स्वरूप हैं यह अटल विश्वास और—

(४) जब सब कुछ उन्हींका है और सब जीव वे ही हैं,

तब सेवा करनेवाला मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ। सेवा नहीं करता हूँ तो कर्तव्यसे च्युत होता हूँ, पाप करता हूँ; और सेवा करके अभिमान करता हूँ तो बेईमानी करता हूँ—यह निश्चय।

यदि इन चार बातोंको हृदयमें उतारकर आप जगत्‌के दुखी जीवोंकी सेवा कर सकें तो इससे बढ़कर और भजन क्या होगा? जीव-सेवाके द्वारा भगवद्भजनकी यह प्रणाली बहुत ही श्रेष्ठ है। ऐसा भाव हो जानेपर तो मनुष्यका प्रत्येक कार्य—चाहे वह अपने भरण-पोषणका ही हो—भगवान्‌का भजन ही बन जाता है। परन्तु भाई साहब! ऐसा सोचना जितना सहज है, होना बहुत ही कठिन है। आप जगत्‌में देख रहे हैं, सेवाके नामपर क्या-क्या हो रहा है, और किस बुरी तरहसे लोग उस नकली सेवाका कितना अधिक बदला चुकवाना चाहते हैं। सेवाकी दूकान नहीं खुलती। सेवा तो हृदयकी स्वाभाविक वस्तु है। क्या अपनी निजकी सेवाके लिये किसी प्रकारके विज्ञापनकी, किसीपर अहसान प्रकट करके और किसीसे उसका बदला चाहनेकी भी कहीं जरूरत होती है? वह तो ऐसा कार्य है, जिसको करना ही पड़ता है, किये बिना सन्तोष होता ही नहीं। ठीक यही भाव लोकसेवामें होना चाहिये। देशात्मबोध हुए बिना वास्तविक देशभक्ति या जीवात्मबोध हुए बिना वास्तविक जीव-सेवा नहीं हो पाती। जो अपने व्यक्तित्वको आभ्यन्तरिक चित्तसे देश या जीवोंके साथ घुला-मिलाकर एक कर देता है, अपने पृथक् व्यक्तित्वको खो देता है, उसकी परवा ही नहीं करता, वही यथार्थ देश-सेवा या जीव-सेवा कर सकता है। और

जीवमात्रको भगवान्‌का स्वरूप समझकर, जिन वस्तुओंके द्वारा उनकी सेवा की जाती है—उन समस्त वस्तुओंको, जिन साधनोंसे सेवा की जाती है, उन 'मन-बुद्धि-शरीरादि' साधनोंको, और जिस 'अहं' में सेवाकी भावना जाग्रत् होती है, उस 'अहं' को भगवान्‌के अर्पण करके जो सेवा होती है, वह तो इससे कहीं विलक्षण होती है। उन महात्मा पुरुषोंको धन्य है, जो इस प्रकार जनताकी सेवा कर पाते हैं। वस्तुतः वे भगवान्‌के बड़े ही प्रिय भक्त हैं। भगवान्‌ने अपने प्रिय भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए कहा है—

> **अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।**
> **निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥**
> **सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।**
> **मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥**
>
> (गीता १२। १३-१४)

जगत्‌में अनन्त प्रकारके प्राणी है और उन सभीके रूप, स्वभाव, कर्म, कर्मफलभोगकी स्थिति आदि भिन्न-भिन्न हैं। मनुष्यके मनमें कुछ ऐसा अज्ञान है कि वह सबको न तो अपने अनुकूल पाता है और न प्रतिकूल। इससे उनके रूप, स्वभाव, कर्म तथा स्थिति आदिमें जहाँ अनुकूलता होती है वहाँ राग होता है और जहाँ प्रतिकूलता होती है, वहाँ द्वेष होता है। भगवान्‌का सच्चा भक्त सब जीवोंमें भगवान्‌को देखता है, इसलिये वह रूप, स्वभाव, कर्म और स्थिति आदिके भेदसे किसी अवस्थामें भी किसीके साथ द्वेष नहीं करता। और न वह अनुकूल विषयोंकी दृष्टिसे होनेवाले राग-की भाँति किसीमें राग ही करता है। शरीर और स्थिति आदिके भेदसे व्यवहार-भेद रहनेपर भी वह सबमें अपने भगवान्‌को पहचानकर

हृदयसे स्वाभाविक ही सबसे प्रेम करता है । जैसे अपनेमें अपना मैत्रीभाव नित्य, विशुद्ध और सदा अक्षुण्ण होता है, वैसे ही जगत्के सभी प्राणियोंमें वह मैत्रीभाव रखता है । मित्रताका आदर्श देखना हो तो रामचरितमानसके भगवान् श्रीरामके इन वचनोंको याद कीजिये—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी । तिन्हहि बिलोकत पातक भारी ॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना । मित्र क दुख रज मेरु समाना ॥
जिन्ह कें असि मति सहज न आई । ते सठ कत हठि करत मिताई ॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा । गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा ॥
देत लेत मन संक न धरई । बल अनुमान सदा हित करई ॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा । श्रुति कह संत मित्र गुन एहा ॥

यह मैत्रीभाव प्राणिमात्रके प्रति अखण्ड और अचल होता है। परन्तु जहाँ दुःख और कष्टोंकी विशेषता होती है, वहाँ तो उसका हृदय फटने-सा लगता है । करुणभावकी तीव्र धारा मन-प्राणको विगलितकर दुःख और कष्टमें पड़े हुए दीन प्राणियोंकी पीड़ाको अपने अंदर आत्मसात् कर लेना चाहती है । यह वह दया नहीं है जो दीनोंपर हुआ करती है; यह परोपकारका भाव नहीं है जो दूसरोंके प्रति हुआ करता है, यह तो वह महान् करुणभाव है जो बड़े-से-बड़े बुद्धिमान् और बलवान्को भी बल-बुद्धिकी विस्मृति कराकर, अभिमन्यु और घटोत्कचके मरनेपर जैसे धीमान् अर्जुन और बलवान् भीम रोये थे और पछाड़ खाकर जमीनपर गिर पड़े थे, वैसे ही रुला देता है । ऐसा होनेपर भी भक्तके इस रोनेमें अर्जुन और भीमको व्याकुल करनेवाला शोक अथवा दुःख नहीं है । यह तो वह सात्त्विक पीड़ा है जो सर्वभूतोंमें आत्मवत् दृष्टि रखनेवाले मैत्री-भावापन्न पुरुषोंके हृदयमें जीवोंको दुःखकी ज्वालामें जलते देखकर

होती है । इसमें शोकजनित निर्वेद, निराशा और अशक्ति, प्रमादजनित निरुद्यमता तथा आलस्य और लापरवाही नहीं है । इसमें आँसुओंके साथ-साथ बड़ी भारी कर्मशीलता है। क्योंकि ये आँसू आत्मा-में, मन-बुद्धिमें और सारे अवयवोंमें पवित्र बोध, तेज, प्रकाश, बल, उत्साह और उल्लासका अदम्य प्रवाह बहा देनेवाले सत्त्वगुणसे प्रसूत विशुद्ध 'करुणा' भावके होते हैं, जो दीनोंके आँसुओंको सुखाकर ही सूखते हैं । परन्तु इतनी ही बात नहीं है, भगवान्‌के सच्चे भक्तमें यह मैत्री और करुणाका भाव भी केवल नाट्यके लिये ही होते हैं । उसका असली भाव तो इससे भी ऊँचा है । जैसे किसी नाटकमें कोई पिता भिन्न-भिन्न प्रसङ्गोंपर मित्रताका और दीनताका अभिनय करे और उस पिताको ठीक पहचाननेवाला पितृभक्त पुत्र स्टेजपर अपने पार्टके अनुसार बदलेमें मैत्री और करुणा-भावका अभिनय करे, परन्तु उसका मन इन अभिनयोंको करते समय भी इनसे कहीं ऊँचे सर्वसमर्पणसे युक्त पितृभक्तिके भावोंसे भरा रहे। वैसे ही भक्त जहाँ मैत्री और करुणाका अभिनय करता है, वहाँ भी वह भगवान्‌की भक्तिमें ही डूबा रहता है । वह जानता है कि मेरे भगवान् ही आज यहाँ मेरे सामने 'मित्र' और 'दीनके' रूपमें उपस्थित हैं और मेरे साथ लीला करना चाहते हैं । अतएव वह सोचता है मुझे इनकी रुचि और इच्छाके अनुसार इनके साथ ऐसी लीला करनी चाहिये जिससे इन्हें अपनी लीलामें सुभीता हो और इसलिये ये महान् आनन्दको प्राप्त हों । भक्त इसी भावसे प्रतिक्षण उन्हें देखता हुआ और मन-ही-मन उन्हें प्रणाम करता हुआ उनके इच्छानुसार लीलामें संलग्न रहता है। उसे न तो इसमें कहीं ममता होती है, न अपने कर्तृत्वका या अपने अस्तित्वका कहीं

अभिमान या अहंकार होता है, न वह लीलाके सुख-दुःखसे सुखी-दुखी होता है और न वह किसीके द्वारा अत्यन्त सताये जानेपर भी किसीको कभी भी भय देनेमें कारण होता है। वह सदा ही क्षमावान् रहता है; क्योंकि वह जानता है कि सभी मेरे हरिके स्वरूप हैं फिर वह किसपर कैसे क्रोध करे ? किसका बुरा चाहे ? और किससे वैर करे ? 'अब हौं कासौं वैर करौं। कहत पुकारत हरि निज मुखतें घट-घट हौं बिहरौं ॥' उसे अपने लिये कुछ प्रयोजनीय ही नहीं होता, इससे वह अपनी स्थितिमें ही सदा सन्तुष्ट रहता है, सदा अपने भगवान्से युक्त रहता है। मन, इन्द्रिय और शरीरपर उसका पूरा अधिकार रहता है। वह अपने निश्चयमें दृढ़ होता है। और सबसे बड़ी बात और असली बात तो यह है कि उसके मन और बुद्धि भगवान्के अर्पण किये हुए होते हैं। भगवान् ही उनके स्वामी, प्रेरक और उसमें बसनेवाले होते हैं। वे भगवान्के अपने घर बन जाते हैं। इससे उसके मन-बुद्धिमें जो कुछ भी आता है, सब भगवान्की ही ओरसे आता है। ऐसा भक्त भगवान्को बड़ा प्यारा होता है। सच पूछिये तो असली जन-सेवा तो ऐसे ही भक्त कर सकते हैं।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि ऐसा न हो तो फिर सेवा ही न करे। किसी भी भावसे की जाय, सेवा तो उत्तम ही है। जो लोग भजनका बहाना करके सेवासे मुँह मोड़ लेते हैं और शरीरके आराम, भोग और नींदके खुर्राटोंमें अपना जीवन बिताते हैं, वे वस्तुतः भजन नहीं करते, वे तो अपने-आपको ही धोखा देते हैं। इतना अवश्य समझ रखना चाहिये कि जैसे भजनके नामपर सेवा छोड़नेवाला आदमी बड़ी भूल करता है, उससे भी कहीं बड़ी भूल

वह करता है जो सेवाके नामपर भगवान्‌का विस्मरण करके उनका भजन छोड़ देता है। जिसके हृदयमें भगवान्‌का अस्तित्व और अवलम्बन नहीं है, उसके द्वारा की जानेवाली सेवासे 'सर्वभूतहित' कभी हो ही नहीं सकता। वैसी सेवा राग-द्वेषको बढ़ाकर, वैर-विरोध और काम-क्रोधको जगा देती है और फिर कहीं तो खुली हिंसा आती है और कहीं वह पिशाचिनी अहिंसाकी बनावटी सुन्दर पोशाक पहनकर अंदरसे जबर्दस्त हमला करती है।

मैं आपको या अन्य किसीको भी कर्मक्षेत्रसे हटनेकी बात तो कभी नहीं करता। परन्तु वर्तमान परिस्थितिमें—जहाँ सभी क्षेत्रोंमें राग-द्वेष और काम-क्रोधका ही नंगा नाच हो रहा है, चाहे उसका नाम कुछ भी हो; वहाँ भगवत्प्राप्तिकी इच्छावाले पुरुषको अपने थोड़े-से जीवनमें इतनी बड़ी जोखिम नहीं उठानी चाहिये और जहाँतक हो सके भगवान्‌के नामका आश्रय लेकर अधिक-से-अधिक भगवन्नाम-स्मरण करना चाहिये। मेरी समझसे—यदि सेवाकी वासना मनमें होगी तो भगवन्नाम-ग्रहणके द्वारा जगत्‌की सेवा भी कम नहीं होगी। यह विश्वास करना चाहिये! कलियुगमें यही एकमात्र मार्ग है।

भगवान्‌की कृपापर निर्भर करके, बस, उनका नाम लेते रहिये। इस कालमें जीवोंके लिये यही सर्वोत्कृष्ट साधना है। दूसरे सब साधन तो इस सुधामयी बूटीके अनुपानमात्र हैं। सच पूछिये तो यह कहना भी अत्युक्ति न होगा कि इस युगमें जगत्‌के उद्धार-की चेष्टा तो बस, अहंकारकी सृष्टिमात्र होगी।

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(ना० पु० १।४१।१५)

काम न छोड़कर भजन बढ़ाना चाहिये

सप्रेम हरिस्मरण ! भगवान्‌की दी हुई सौगातको सिर चढ़ाना चाहिये और भगवान्‌के विधानको आनन्दपूर्वक सिर झुकाकर स्वीकार करना चाहिये । मानो आपको तपा-तपाकर खरा सोना बनानेके लिये भगवान्‌की कृपासे ही यह व्यवस्था हुई है, ऐसा समझना चाहिये । जरा भी मनमें क्षोभ मत कीजिये ।

श्री······जी यहाँ आये थे । बड़े प्रेमसे कहते थे 'श्री······जी (अर्थात् आपको) खूब फटकार लिखिये, उनको बड़ा लोभ हो रहा है, इतने रुपयेका क्या करेंगे, रोज भीख-सी माँगते फिरते हैं । भजनमें क्यों नहीं लगते ।' मैंने उनसे कहा—'आपके साथी मित्र हैं, आप ही कहिये ।' व्यापारका हाल लिखा सो ठीक, आपने लिखा कि व्यापारका झंझट छूटता नहीं, परन्तु भगवत्स्मरणके बिना जीवन सूखा-सा प्रतीत होता है, आनन्द नहीं आता ।' बस, यह पिछली बात बड़ी सुन्दर है—इसमें बड़ी आशा भरी है । 'भगवत्स्मरणके बिना आनन्द न आना, जीवन नीरस-सा प्रतीत होना'—बड़े ही शुभ लक्षण हैं । इन शुभ लक्षणोंको भजन-स्मरण तथा स्वाध्यायके द्वारा बढ़ाते रहिये । फिर व्यापार न छूटनेपर भी छूट जायगा । व्यापार छोड़नेकी जरूरत भी नहीं है । जरूरत तो है आसक्ति छोड़नेकी । आज मान लीजिये, आपने उकताकर, जोशमें आकर या किसीके कहनेसे व्यापार छोड़ दिया, कल पश्चात्ताप होने लगा कि 'यह तो बहुत ही बुरा हुआ । व्यापार हाथसे जाता रहा ।

अब मैदानसे हट गये तो पहले-जैसा जमनेका नहीं। क्या करें!' ऐसी अवस्थामें उलटा चित्तमें विषाद होगा। चित्त भगवान्में लगने लगे, उसमें आनन्दका अनुभव हो और वह आनन्द विषयोंकी प्राप्तिके आनन्दसे बहुत ही विलक्षण तथा श्रेष्ठ प्रतीत हो, तभी छोड़नेकी बात करनी चाहिये, और तब बात करनी पड़ती नहीं। नीरस चीज रसीली वस्तुके सामने आप ही छूट जाती है। नहीं छूटती तो उसमें खिंचाव—आसक्ति तो नहीं रहती। इसलिये अभी आप छोड़िये नहीं। भजनमें मन अधिक लगाइये। सच्ची बात तो यह है—'श्रीभगवान् ही जीवनका प्रधान लक्ष्य हैं' ऐसा निश्चय हुआ नहीं; निश्चय होनेपर तो अपने-आप उससे विरोधी रास्तेसे जीवन हट जायगा। तब भी निराश होनेकी बात नहीं है। भगवान् सबके सुहृद् हैं, आप उनका नाम जपते हैं। नाम अपनी शक्तिसे आप ही काम करेगा। घबराइये नहीं—स्मरण-भजन बढ़ाते रहिये। होने लगे तब कंजूसके धनकी भाँति उसे पकड़ रखिये। मनसे कहिये—'चिन्तनरूपी धन मिलनेपर, रे दरिद्र! तू उसे छोड़ता क्यों है?' स्मरण न रहे तब पश्चात्ताप होना चाहिये, सो तो आपको होता ही है। श्रीभगवान्का भजन आप ही बल पैदा करेगा। भरोसा करके भजन कीजिये।

---

(५७)

भगवद्भक्ति और दैवी सम्पत्ति

आपका कृपापत्र मिला। भगवान्के नाम और भगवद्भक्तिकी महिमा अनन्त है। आप और हम तो क्षुद्र हैं—महापुरुष भी

इनकी महिमा पूरी-पूरी नहीं गा सकते; परन्तु भाई साहब ! आप जिस ढंगसे भक्ति और भगवन्नामका माहात्म्य बतलाते हैं, वह मुझे पसंद नहीं है । मैं तो मानता हूँ, भगवन्नामसे पापका लेश भी नहीं रहता । फिर यह कैसे स्वीकार करूँ कि भगवन्नामका सहारा लेकर दुष्कर्म करते रहना—जान-बूझकर भी उनसे हटनेका प्रयास और अभिप्राय न करना उचित है ? मेरी समझसे भगवद्भक्तिके साथ दैवी सम्पत्तिका अनिवार्य संयोग है । कोई भगवद्भक्त भी बने और बेरोक-टोक व्यभिचार और परधन-हरण भी करता रहे । घंटे-आध घंटे कीर्तन कर ले और दिन-रात बिना किसी ग्लानिके, खुशी-खुशी जूए, शराब, परनिन्दा, परदोष-दर्शन और दूसरोंको ठगने और कष्ट पहुँचानेमें बीतें, यह कैसी भक्ति है, कुछ समझमें नहीं आता । यह सत्य है कि इससे अधिक पाप करनेवालोंको भी भगवन्नाम-कीर्तन और भक्ति करनेका अधिकार है । भगवान्‌का द्वार पापियोंके लिये बंद नहीं है तथा भगवन्नाम और भगवद्भक्तिसे पापी भी शीघ्र पुण्यात्मा-महात्मा भी बन सकते हैं, परन्तु जिनके मनमें बुरे कर्मोंसे जरा भी ग्लानि नहीं और जो इसीलिये भगवन्नाम लेते हैं कि उनके पाप टके रहें या पाप करनेमें उन्हें सुविधा मिल जाय उनके लिये बहुत विचारणीय बात है । यह सत्य है कि भगवन्नामकी पाप-नाश करनेकी शक्ति पापीके पाप करनेकी शक्तिसे कहीं अधिक है, और अन्तमें उसके पापोंका नाश करके भगवन्नाम उसे तार देगा; परन्तु जान-बूझकर पाप करनेके लिये ही नाम लेना भगवद्भक्तिका आदर्श कैसे माना जा सकता है ? मेरा तो यह विश्वास है कि जो लोग भगवान्‌की सच्ची भक्ति करते हैं, उनमें मनका निग्रह,

इन्द्रियोंका वशमें होना, अहिंसा, सत्य, सेवा, क्षमा, परदुःख-कातरता, मैत्री, दया आदि गुण क्रियात्मक रूपमें प्रत्यक्ष आ जाते हैं और इनके आनेपर ही भक्ति आदर्श मानी जाती है । अतएव मेरी तो आपसे प्रार्थना है कि आप भक्तिके साथ उसकी चिरसङ्गिनी—जिसके बिना भक्ति रह नहीं सकती—दैवी सम्पत्तिका भी पूरा आदर करें, तभी भक्तिका यथार्थ विकास होगा और तभी तुरंत शान्ति मिलेगी । यह याद रखना चाहिये कि भगवद्भक्तिके बिना दैवी सम्पत्ति प्राणहीन है और दैवी सम्पत्तिके बिना भक्ति नहीं होती । इन दोनोंका परस्पर अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है । भगवद्भक्तमें कैसे गुण होने चाहिये, इसका विशेष विवरण गीतामें भगवान्ने बतलाया है । बारहवें अध्यायके १३ वेंसे २० वें श्लोकतक देखना चाहिये ।

(५८)

भगवान् और भक्तका सम्बन्ध

आपका पत्र मिला, पढ़कर प्रसन्नता हुई । मेरे पास इतने पत्र आते हैं कि मैं सबका उत्तर तो लिख ही नहीं पाता और इस विवशताके लिये सिवा क्षमा-प्रार्थनाके मेरे पास अन्य कोई उपाय भी नहीं है ।

भगवान् और भक्तके सम्बन्धका रहस्य भला मैं कैसे जानूँ । उसे तो भगवान् और भक्त ही जानते हैं । भगवान् श्रीराम और भरतजीके प्रेम-सम्बन्धके जाननेमें विदेहराज जनक भी अपनेको असमर्थ पाते हैं । वे अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहते हैं—

धरम राजनय ब्रह्मबिचारू। इहाँ जथामति मोर प्रचारू॥
सो मति मोरि भरत महिमाही। कहै काह छलि छुअति न छाँही॥

× × × × ×

देबि परंतु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी॥
भरतु अवधि सनेह ममता की। जद्यपि रामु सीम समता की॥

'धर्म, राजनीति और ब्रह्मविचार—इन तीन विषयोंमें अपनी बुद्धिके अनुसार मेरा प्रवेश है। अर्थात् मैं धर्मकी व्यवस्था दे सकता हूँ, राजनीतिक उलझनोंको सुलझा सकता हूँ और ब्रह्मज्ञानका भी उपदेश कर सकता हूँ, इन विषयोंमें मेरी बुद्धि काम करती है, परन्तु मेरी वही बुद्धि भरतजीकी महिमाका वर्णन तो क्या करे, छलकर उसकी छायातकको नहीं छू पाती। देवी! भरतजी और श्रीरामचन्द्रजीका प्रेम और परस्परका विश्वास अतर्क्य है, वह बुद्धि और विचारकी सीमासे परे है। यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी समताकी सीमा हैं तथापि भरतजी प्रेम और ममताकी सीमा हैं।'

भक्तके भावको केवल भगवान् पहचानते हैं और भगवान्‌के भावको भक्त। इसीसे तो वे एक-दूसरेका स्वाभाविक ही अनुसरण करते हैं। भक्त चाहता है मैं भगवान्‌की रुचिका अनुसरण करूँ और भगवान् अपने भक्तकी क्रियाके अनुसार ही वर्तते हैं। सीताजी रामजीके लिये रोती हैं तो रामजी सीताजीके लिये। लक्ष्मणजी रामजीका वियोग नहीं सह सकते और रामजी लक्ष्मणजीके मूर्छित होनेपर विकल होकर प्राणत्यागतकको तैयार हो जाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण इसीसे कहते हैं—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥
न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १५, १६, २०)

मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शनाः ।
वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा ॥
साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् ।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि ॥
(श्रीमद्भा० ९ । ४ । ६६, ६८)

'उद्धवजी ! मुझे तुम-जैसे भक्त जितने प्रियतम हैं, अपने पुत्र ब्रह्माजी, साक्षात् मेरे स्वरूप श्रीशंकरजी, भाई बलरामजी, निरन्तर मेरी सेवामें रहनेवाली पत्नी लक्ष्मीजी और मेरा अपना आत्मा भी मुझे उतने प्रिय नहीं हैं । किसी बातकी चाह न रखनेवाले, मेरा ही मनन करनेवाले, शान्तचित्त, निर्वैर और सर्वत्र मुझको देखनेवाले अपने भक्तोंके पीछे-पीछे मैं नित्य इसलिये फिरता हूँ कि उनकी चरण-धूलिसे अपनेको पवित्र कर सकूँ । बढ़ी हुई (विशुद्ध और अनन्य) मेरी भक्ति जैसे मुझको वशमें करती है, वैसे योग, ज्ञान, धर्म, वेदाध्ययन, तप और त्याग मुझको वशमें नहीं कर सकते ।'

'(दुर्वासाजी !) जिनका हृदय मेरे साथ बँध गया है और जो सब जगह सबमें सब समय समरूपसे मुझको ही देखते हैं, वे अपनी भक्तिसे मुझे वैसे ही अपने वश कर लेते हैं, जैसे पतिव्रता स्त्रियाँ अपने श्रेष्ठ पतियोंको वशमें कर लेती हैं । अधिक क्या कहा जाय,

ऐसे साधु मेरे हृदय हैं और मैं उनका हृदय हूँ, वे मेरे सिवा किसीको नहीं जानते और मैं उनके सिवा किसीको नहीं जानता।'

यह तो भगवान्‌का भाव है—अब भक्तका भाव देखिये और उसको भी भगवान्‌की ही वाणीमें सुनिये—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १४)

मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम् ।
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविद्रुतम् ॥

(श्रीमद्भा० ९ । ४ । ६७)

'जिसने अपना चित्त मुझको दे दिया है वह मुझको छोड़कर ब्रह्माके आधिपत्य, देवराज इन्द्रके राज्य, सार्वभौम साम्राज्य, पातालके आधिपत्य, योगकी समस्त सिद्धियाँ, यहाँतक कि कैवल्यमोक्षतकको नहीं चाहता।'

'मेरे भक्त मेरी सेवासे ही पूर्णमनोरथ होते हैं, वे मेरी सेवाको छोड़कर सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्तियोंको भी नहीं चाहते; फिर कालसे नाश होनेवाली अन्यान्य वस्तुओंकी तो बात ही क्या है?'

यह भगवान् और भक्तके उन भावोंका बाह्य दिग्दर्शन है जो लोकशिक्षाके लिये भक्ति और भक्तका महत्त्व बतलाते हुए भगवान्‌ने कराया है। वस्तुतः भगवान् और भक्तके पारस्परिक भाव तो हमारे लिये अचिन्त्य ही होते हैं, वे हमारी वाणीमें और हमारे मनोंमें कभी आ नहीं सकते। उनका कैसा क्या नाता होता है इस

बातको तीसरा कोई नहीं बतला सकता । हाँ, उनके पारस्परिक व्यवहारकी बाह्य लीलाको पढ़-सुनकर, गाकर तथा मनन करके हम परम पवित्र हो सकते हैं । वस्तुतः भगवान् और भक्त दो स्वरूपोंमें एक ही परम वस्तु हैं । उनके दो स्वरूप तो लीलानन्दके लिये हैं । और वह लीला लोकपावनी होती है ।

(५९)

भगवत्प्रेमसम्बन्धी कुछ बातें

आपके तीन पत्र आये । बदलेमें क्या लिखूँ, कुछ समझमें नहीं आया ।···अतः पत्रका उत्तर न लिखकर जो कुछ मनमें आता है, लिख रहा हूँ । मैं नहीं जानता आपकी आध्यात्मिक स्थिति कैसी है । ठीक अनुमान भी नहीं लगा सकता । मैं जो कुछ लिखता हूँ वह यदि आपकी स्थितिसे नीचे तहके साधकोंके कामकी बात हो तो आप सिर्फ पढ़कर छोड़ दें । आपके लिये उपयोगी हो तो ग्रहण करनेकी कोशिश करें ।

यद्यपि मैंने बहुत ऊँची स्थितिका अनुभव नहीं किया है, तथापि भगवत्प्रेमके मार्गकी कुछ बातें किसी-न-किसी सूत्रसे मैं जान सका हूँ । उसीके आधारपर मेरा यह लिखना है । जहाँतक मेरा विश्वास है—मैं जो कुछ लिखता हूँ, सो ठीक है । भगवत्प्रेमके मार्गपर चलनेवालोंको इसपर ध्यान देना चाहिये ।

भगवत्प्रेमके पथिकोंका एकमात्र लक्ष्य होता है—भगवत्प्रेम !

वे भगवत्प्रेमको छोड़कर मोक्ष भी नहीं चाहते—यदि प्रेममें बाधा आती दीखे तो भगवान्‌के साक्षात् मिलनकी भी अवहेलना कर देते हैं—यद्यपि उनका हृदय मिलनके लिये आतुर रहता है। जगत्‌का कोई भी पार्थिव पदार्थ, कोई भी विचार, कोई भी मनुष्य, कोई भी स्थिति, कोई भी सम्बन्ध, कोई भी अनुभव उनके मार्गमें बाधक नहीं हो सकता। वे सबका अनायास—बिना ही किसी संकोच, कठिनता, कष्ट और प्रयासके त्याग कर सकते हैं। संसारके किसी भी पदार्थमें उनका आकर्षण नहीं रहता। कोई भी स्थिति उनकी चित्तभूमिपर आकर नहीं टिक सकती, उनको अपनी ओर नहीं खींच सकती। शरीरका मोह मिट जाता है। उनका सारा अनुराग, सारा ममत्व, सारी आसक्ति, सारी अनुभूति, सारी विचारधारा, सारी क्रियाएँ एक ही केन्द्रमें आकर मिल जाती हैं—वह केन्द्र होता है, केवल भगवत्प्रेम—वैसे ही जैसे विभिन्न पथोंसे आनेवाली नाना नदियाँ एक ही समुद्रमें आकर मिलती हैं। शरीरके सम्बन्ध, शरीरका रक्षण-पोषणभाव, शरीरका आकर्षण, शरीरमें आकर्षण (अपने या परायेमें), शरीरकी चिन्ता (अपने या परायेकी) सब वैसे ही मिट जाते हैं, जैसे सूर्यके उदय होनेपर अन्धकार। ये तो बहुत पहले मिट जाते हैं। विषय-वैराग्य, काम-क्रोधादिका नाश, विषाद-चिन्ताका अभाव, अज्ञानान्धकारका विनाश—भगवत्प्रेम-मार्गके अवश्यम्भावी लक्षण हैं। भगवत्प्रेमका मार्ग सर्वथा पवित्र, मोहशून्य, सत्त्वमय, अव्यभिचारी और विशुद्ध होता है। भगवत्प्रेमकी साधना अत्यन्त बढ़े हुए सत्त्वगुणमें ही होती है। उसमें दीखनेवाले काम, क्रोध, विषाद, चिन्ता, मोह आदि तामसिक

वृत्तियोंके परिणाम नहीं होते। वे तो शुद्ध सत्त्वकी ऊँची अनुभूतियाँ होती हैं; उनका स्वरूप बतलाया नहीं जा सकता। भूलसे लोग अपने तामस विकारोंको उनकी श्रेणीमें ले जाकर 'प्रेम' नामको कलङ्कित करते हैं। वे तो बहुत ही ऊँचे स्तरकी साधनाके फलस्वरूप होती हैं। उनमें—हमारे अंदर पैदा होनेवाली भोग-वासनाकी सूक्ष्म और स्थूल तमोगुणी वृत्तियोंका कहीं लेश भी नहीं होता। बहुत ऊँची स्थितिमें पहुँचे हुए महात्मा लोग ही उनका अनुभव कर सकते हैं—वे कथनमें आनेवाली चीजें नहीं हैं—कहना-सुनना तो दूर रहा, हमारी मोहाच्छन्न बुद्धि उनकी कल्पना भी नहीं कर सकती। भगवत्कृपासे ही उनका अनुमान होता है और तभी उनकी कुछ अस्पष्ट-सी झाँकी होती है। इस अस्पष्ट झाँकीमें ही उनकी इतनी विलक्षणता मालूम होती है कि जिससे यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि ये चीजें दूसरी ही जातिकी हैं। नाम एक-से हैं—वस्तुगत भेद तो इतना है कि उनसे हमारी लौकिक वृत्तियोंका कोई सम्बन्ध ही नहीं जोड़ा जा सकता, तुलना ही नहीं होती। भगवान्‌की कृपासे—इस प्रेममार्गमें कौन कितना आगे बढ़ा होता है, कौन किस स्तरपर पहुँचा होता है, यह बाहरकी स्थिति देखकर कोई नहीं जान सकता; क्योंकि यह चीज बाहर आती ही नहीं। यह तो अनुभवरूप होती है। जो बाहर आती है, वह तो प्रायः नकली होती है। जिसे हम अप्रेमी मानते हैं, सम्भव है वह महान् प्रेमी हो। जिसे हम दोषी समझते हैं, सम्भव है वह प्रेममार्गपर बहुत आगे बढ़ा हुआ महात्मा हो, और जिसे हम प्रेमी समझ बैठते हैं, सम्भव है वह पार्थिव मोहमें ही फँसा हो।

भगवत्प्रेमियोंको कोटिशः नमस्कार है । उनकी गति वे ही जानें । सीधी और सरल बातें जो करनेकी हैं, वे तो ये सात हैं—

१—भोगोंमें वैराग्यकी भावना ।

२—कुविचार, कुकर्म, कुसङ्गका त्याग ।

३—विषय-चिन्तनका स्थान भगवच्चिन्तनको देनेकी चेष्टा ।

४—भगवान्‌का नाम-जप ।

५—भगवद्‌गुणगान-श्रवण ।

६—सत्सङ्ग-स्वाध्यायका प्रयत्न ।

७—भगवत्कृपामें विश्वास बढ़ाना ।
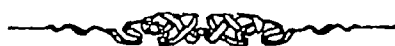
(६०)

सच्चा एकान्त और भगवत्प्रेम

मनुष्य कुछ सोचता है, होता वही है जो श्रीनन्दनन्दनने रच रक्खा है । 'जो कछु रचि राख्यो नँदनंदन मेटि सकै नहिं कोय ।'

वस्तुतः बाहरी एकान्तका महत्त्व भी क्या है, सच्चा एकान्त तो वह है, जिसमें एक प्रभुको छोड़कर चित्तके अंदर और कोई कभी आवे ही नहीं । शोक-विषाद, इच्छा-कामना आदिकी तो बात ही क्या, मोक्षसुख भी जिस एकान्तमें आकर बाधा न डाल सके । जबतक चित्तमें नाना प्रकारके विषयोंका चिन्तन होता है, तबतक एकान्त और मौन दोनों ही बाह्य हैं और इनका महत्त्व भी उतना ही है जितना केवल बाहरी दिखावेके लिये होनेवाले कार्योंका होता है। उन महापुरुषोंको धन्य है, जो एकमात्र श्रीकृष्णके ही रंगमें पूर्णरूपसे रँग

गये हैं, जिनका चित्त जगत्के विनाशी सुखोंकी भूलकर भी खोज नहीं करता, जिनकी चित्तवृत्ति संसारके ऊँचे-से-ऊँचे प्रलोभनकी ओर भी कभी नजर नहीं डालती, जिनकी आँखें सर्वत्र श्यामसुन्दरके दिव्य स्वरूपको देखती हैं और जिनकी सारी इन्द्रियाँ सदा केवल उन्हींका अनुभव करती हैं। सच्चा एकान्तवास और सच्चा मौन उन्हीं महात्माओंमें है।.....................................

........मेरे बावत भ्रान्तिपूर्ण धारणा किसीके हृदयमें नहीं होनी चाहिये। इस प्रकारकी भ्रान्ति रहनेसे आगे चलकर भ्रान्ति-नाश होनेपर या किसी भी कारणवश भाव बदल जानेपर मनमें बड़ा पश्चात्ताप हुआ करता है कि 'हाय! हम बड़ी भूलमें रहे। यदि इतना प्रेम श्रीभगवान्में करते—इतना उनकी ओर झुकते तो न मालूम कितना लाभ उठाया होता।' और वास्तवमें है भी ऐसी ही बात। भगवान्के साथ मनुष्यकी तुलना ही कैसी—चाहे कोई कितना ही बड़ा महात्मा क्यों न हो? हवाके एक जरा-से झोंकेसे गिर जानेवाली बालूकी भीतका सहारा किस कामका? मनुष्यमें न मालूम कितने और कैसे-कैसे संस्कार भरे रहते हैं। उनमेंसे यदि कभी कोई उभड़कर सामने आ जाता है तो हम जिसे अच्छा पुरुष मानते चले आते हैं, उसके प्रति भी हमारी घृणा हो सकती है। किसी कारणवश हमारी धारणा भूलसे भी बदल सकती है। निर्दोष तो एक श्रीभगवान् हैं और उनमें धारणा बदलनेका भी कोई कारण नहीं है; अतएव अपनी सारी श्रद्धा, भक्ति और भावुकताको उन्हींके प्रति समर्पण करना चाहिये। फिर मैं तो महात्मा भी नहीं हूँ।...

आपका प्रेम भगवान्की ओर मुड़ जाय, इसका उपाय यही

है कि भगवान्का महत्त्व कुछ समझिये । मुझमें जो आपका इतना प्रेम है, उसके मूलमें भी तो यही भावना है न कि आप मुझमें किसी अंशमें भगवत्प्रेमका आभास पाते हैं—चाहे वह आपकी भूल धारणा हो । फिर आप मूलकी क्यों अवहेलना करना चाहते हैं ? उनके प्रेमका अधिकारी प्रत्येक जीव है । 'नरकका कीड़ा' क्या उस स्नेहमयी माताके अतिरिक्त—जिसका हृदय अपने प्रत्येक बच्चेके लिये सदा ही स्नेहसे भरा रहता है—किसी दूसरी मासे पैदा हुआ है ? आप इस बातको भूल जाइये । भगवान्का प्रेम सबको प्राप्त हो सकता है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है । हाँ, होनी चाहिये उस प्रेमकी प्राप्तिके लिये सच्ची चाह । भगवत्प्रेमकी चाह अपने-आप ही नरकसे निकालकर वैकुण्ठमें ले जायगी । तमाम दूषित भावनाएँ, तमाम पाप-ताप भगवत्प्रेमकी चाहकी प्रचण्ड आगमें जलकर खाक हो जायँगे । चाह कीजिये । उनके प्रेमको पानेकी इच्छा जाग्रत् कीजिये । सङ्कल्प पढ़ते थे, अब मनसे सङ्कल्प कर लीजिये कि उनका प्रेम प्राप्त होगा ही ।

(६१)

प्रेम और विकार

···आप लिखते हैं 'मैं प्रेम-धनसे शून्य हूँ । बिना प्रेमके जीवन कैसा, वह तो बोझरूप है ।' यह आपका लिखना सिद्धान्ततः ठीक ही है । प्रेमशून्य जीवन शून्य ही है । परन्तु वास्तवमें यह बात है नहीं । प्रेम सभीके हृदयमें है, भगवान्ने जीवको प्रेम देकर ही जगत्में भेजा है । हमने उस प्रेमको नाना प्रकारसे इन्द्रियचरितार्थता-

में लगाकर विकृत कर डाला है, इसीलिये उसके दर्शन नहीं होते, और कहीं होते हैं तो बहुत ही विकृतस्वरूपमें होते हैं। विकृत स्वरूपका नाश होते ही मोहका पर्दा फट जाता है; फिर प्रेमका असली ज्योतिर्मय स्वरूप प्रकट होता है, जिसके प्राकट्यमात्रसे ही आनन्दाम्बुधि उमड़ पड़ता है। प्रेम और आनन्दका नित्ययोग अनिवार्य है। भगवान्‌के आनन्दसे ही प्रेमकी सृष्टि हुई है और इस प्रेमसे ही आनन्दका विकास और पोषण होता है। प्रेमकी कोई भी दशा ऐसी नहीं है, जहाँ आनन्दका अभाव हो, और आनन्द भी कोई ऐसा नहीं, जिसमें कारणस्वरूपसे प्रेम वर्तमान न हो। परन्तु जहाँ प्रेमके नामपर कामकी क्रीड़ा होने लगती है, वहाँ प्रेम अपनेको छिपा लेता है। चिरकालसे मलिना मायाके मोहवश हम कामकी क्रीड़ामें लगे हैं। कामको ही प्रेम समझ बैठे हैं। इसीलिये प्रेम हमसे छिप गया है और इसीलिये प्रेमके अभावमें हम आनन्दरहित केवल 'चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः' और 'कामोपभोगपरमाः' (गीता १६ । ११) होकर शोक-विग्रह बन गये हैं। इस कामकी कालिमाको धोनेके लिये आवश्यकता है किसी ऐसे क्षारकी जो इसकी जड़तकका नाश कर दे, और वह क्षार वैराग्य है। गोविन्द-पदारविन्द-मकरन्द-मधुकर विषय-चम्पक-चञ्चरीक होता ही है। बार-बार उस परम प्रेमार्णव—अनन्त प्रेमार्णव सुधासार श्यामसुन्दरका स्मरण करना और उसकी दिव्य पद-नख-ज्योतिके प्रकाशसे समस्त सञ्चित मोहान्धकारका नाश करनेके निश्चयसे प्रत्येक क्षणके प्रत्येक चिन्तनमें अपार अलौकिक आनन्दका अनुभव करना (अनुभव न हो तो भावना करना) कर्तव्य है। उसके इस मधुर चिन्तनके प्रभावसे

२११९

जगत्के समस्त रस नीरस, कटु और त्याज्य हो जायँगे। तब उस रस-विग्रहकी रश्मियाँ हमारे ऊपर पड़ेंगी और हमारे सुप्त प्रेमको जगाकर हमें उसके दिव्य दर्शन करायेंगी।

(६२)

गोपी-प्रेमकी महिमा

आपका पत्र मिले बहुत दिन हो गये। गोपी-प्रेमकी बात किसी प्रेमीसे पूछिये। मैं तो इसका अधिकारी भी नहीं हूँ। मुझ अनधिकारीको ही जब यह इतना आनन्द देता है, तब जो महानुभाव अधिकारपूर्वक इसका यथार्थ रसास्वादन करते हैं, उनके लिये तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता। श्रीराधिकाजी स्वयं रसराज रसिकशेखर भगवान् श्रीकृष्णको रस-सागरमें निमग्न कर देनेवाली उन्हींकी स्वरूप-भूता ह्लादिनी शक्ति हैं। श्रीकृष्णमें जो परम उच्च निष्काम 'रति' होती है, उसे प्रेम कहते हैं—श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा गया है कि वही रति जब बढ़ते-बढ़ते क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय, राग और अनुरागके रूपमें परिणत होकर 'भाव' रूपा होती है, तब वह बड़ी ही विलक्षण होती है। यही 'भाव' जब 'महाभाव' स्वरूपको प्राप्त होता है तब उसे प्रेमकी अत्युच्च स्थिति कहते हैं। श्रीमती राधिकाजी इस 'महाभाव' का ही मूर्तिमान् दिव्य विग्रह हैं। इन 'महाभाव' रूपा श्रीराधिकाजीकी जो महाभाग्यवती सखियाँ रसराज श्रीकृष्णके साथ उनके मिलनकी साधनामें लगी रहती हैं, वही श्रीगोपीजनके नामसे प्रख्यात हैं। इनका प्रेम ऐसा दिव्य और विलक्षण है कि उसका तनिक-सा स्मरणमात्र भी साधकको इस

मायाके क्षेत्रसे बाहर—अति दूर उस दिव्य प्रेमसाम्राज्यमें ले जाता है, जहाँका सभी कुछ अनोखा है। जहाँ कभी कोई वस्तु पुरानी होती ही नहीं। श्रीकृष्ण जैसे नित्य नव सुन्दर हैं और सदा एकरस होनेपर भी उनका सौन्दर्य जैसे प्रतिक्षण नये-नये रूपमें वर्द्धित होता रहता है, वैसे ही वहाँकी प्रत्येक वस्तु—गो, गोप-गोपी, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वृक्ष-लता सच्चिदानन्दरसमय, दिव्य और नित्य नवीनरूपमें प्रकाशित होती रहती हैं, इसी प्रकार यह गोपी-प्रेम भी नित्य-नूतन बना रहता है। हमारे इस जगत्में ऐसी बात नहीं है। प्रेमके प्रथम प्रयासमें प्रेमी जितना सुन्दर और मधुर प्रतीत होता है, कुछ दिनोंके बाद उसके उस सौन्दर्य और माधुर्यकी वैसी अनुभूति नहीं होती। वह पुराना पड़ जाता है। उसमें पहले-जैसा आकर्षण नहीं रह जाता। उससे मिलनेके लिये चित्तमें पहले-जैसी छटपटी नहीं रह जाती। परन्तु इस गोपी-प्रेममें यह बात नहीं है। इसकी अलौकिक आनन्द-सुधाधारा नित्य नवीन आनन्ददायिनी होती है। क्योंकि इसी दिव्य प्रेमसे नित्य नव सुन्दर रसिकशिरोमणि रसमय श्रीश्यामसुन्दरके नित्य नव सौन्दर्यके दर्शन होते रहते हैं। इस प्रेमकी तनिक-सी छाया भी समस्त ब्रह्माण्डोंके ऐश्वर्य-सुखको—यहाँतक कि मोक्षसुखको भी नीरस और हेय बना देती है। फिर बस, जीवनमें केवल एक ही साध बनी रह जाती है और वह पूरी होती रहनेपर भी कभी पूरी होती ही नहीं! वह साध है नित्य-निरन्तर प्रतिक्षण अपने जीवनाधार अखिल रसामृतमूर्ति श्याम-सुन्दरके नित्य नये-नये सौन्दर्य और माधुर्यको देखते रहना।

क्या लिखा जाय। गोपी-प्रेमके इस 'भाव' राज्यमें जिनका

तनिक-सा भी प्रवेश है, उनकी दशा कुछ कही नहीं जाती। यह प्रेमरस-सागर अगाध और असीम है। इसमें जो डूबा उसे क्या मिल गया, कुछ कहा नहीं जा सकता। अहा! इस अगाध एकरस महासागरमें कितनी विचित्रता है! यह नित्य स्थिर होनेपर भी परम चञ्चल है। इसमें नित्य नयी-नयी भाव-लहरियाँ उठती रहती हैं—उनमें जरा भी विराम या विश्राम नहीं है, धन्य हैं वे, जो इसमें डूबे हुए इन लहरियोंके साथ लहराते रहते हैं। बिजलीकी चमककी भाँति कहीं एक बार क्षणमात्रके लिये भी इस प्रेमकी और इस प्रेमके विषय रसघनविग्रह श्यामसुन्दरकी झाँकी हो जाती है तो वह सदाके लिये आनन्द-रससागरमें डुबो देनेवाली होती है।

यह गोपी-प्रेम उन्हींको प्राप्त होता है जो कर्म-धर्म, भुक्ति-मुक्ति, ज्ञान-वैराग्य सबका मोह छोड़कर केवल प्रेम ही चाहता है और सारे भोगोंकी लालसाको तथा असत्य, हिंसा, काम, क्रोध, मान, बड़ाई, परचर्चा, लोकवार्ता आदिको सर्वथा त्याग कर परम आश्रय मानकर श्रीगोपीजनोंकी चरणोपासना करता है और एक प्रेमलालसासे युक्त होकर उनसे केवल इस प्रेमकी ही भीख माँगता रहता है।

---

(६३)

भगवत्प्रेमका साधन

श्रीभगवान्‌के प्रेमकी प्राप्ति बहुत ही दुर्लभ होनेपर भी भगवत्-कृपासे उसीको हो सकती है और सहज ही हो सकती है जो वास्तवमें चाहता है। चाहता वही है जो प्रेमकी कीमतमें सर्वस्व अर्पण करनेको तैयार है। यद्यपि भगवत्प्रेम किसी कीमतसे नहीं मिलता; क्योंकि वह अमूल्य है।

'कैवल्य' की कीमत भी उसे खरीदनेके लिये पर्याप्त नहीं है; कहना चाहिये कि भगवत्प्रेम खरीदा ही नहीं जा सकता। वह ीको मिलता है, जिसको कृपा करके भगवान् देते हैं, और देते सको हैं जो सर्वस्व उनके चरणोंपर न्योछावर करके भी अपनेको मका अपात्र मानता है, और पल-पलमें प्रेमास्पद प्रभुके प्रेमपर ुग्ध होता रहता है। किसी भी उपायसे प्रेम नहीं मिलता और । उसके लिये समयकी ही शर्त है। प्रेमके मार्गमें किसी भी शर्तके लेये गुंजाइश नहीं है। यहाँ तो बिना शर्तका समर्पण है। सब कुछ दे डाले, तन-मन अर्पण कर दे। मुरलीकी भाँति हृदयको शून्य कर दे और बदलेमें कुछ भी न चाहे। चाहे तो यही चाहे कि इस शून्य हृदयका भी उस प्रेमास्पदको पता न लग जाय। क्योंकि शून्य होनेपर भी यह प्रेमके योग्य नहीं है। उसका पवित्र प्रेम यहाँ आवेगा, इस हृदयमें उसका प्रवेश होगा तो उस प्रेमकी प्रतिष्ठा ही घट जायगी। प्रेमके लिये सर्वथा अयोग्य मुझको प्रेम न देनेमें प्रभुके प्रेमकी शोभा है, परन्तु वह परम प्रेमास्पद इतनेपर भी न जाने क्यों मुझसे प्रेम करता है, क्या वह स्वयं अपनी प्रेमप्रतिष्ठाको भूल गया है, जो मुझ-सरीखे त्यागकी स्मृति रखनेवाले त्यागाभिमानियोंकी ओर निरन्तर प्रेमदृष्टिसे देखता है और मुझमें भी प्रेमका अस्तित्व मानता है। स्वाभाविक ही सर्वार्पणके पश्चात् जब इस प्रकारका भाव होता है, तब भगवान्के प्रेमका पवित्र प्रादुर्भाव हृदयमें होता है। प्रेम तो प्रत्येक जीवके साथ भगवान्का दिया हुआ है ही, वह विषयानुरागके दृढ और मोटे आच्छादनसे ढका है; विषयासक्ति, ममता और अहंकारके काले पर्देसे आवृत है। इस आच्छादन और आवरणके हटते ही वह निर्मल और पवित्र रूपमें

प्रकट हो जाता है । यह प्राकट्य ही प्रादुर्भाव है । अतएव जबतक विषयासक्ति, ममता और अहंकार दूर न हो, तबतक भगवान्के गुण, माहात्म्य, सौन्दर्य-माधुर्य, कारुण्य आदिके श्रवण-मननसे विषयासक्तिको, परम आत्मीयभावके निरन्तर अनुचिन्तन और निश्चयसे विषय-ममत्वको, और शरणागतिके भावसे अहंकारको हटाते और मिटाते रहना चाहिये । साथ ही भगवच्चिन्तनका सतत अभ्यास करना चाहिये । प्रेम कितने दिनमें मिल सकेगा, इस बातकी चिन्ता छोड़कर उनका निरन्तर चिन्तन कैसे होता रहे, इसीकी चिन्ता करनी चाहिये । नामजप, गुणानुवाद-श्रवण-मनन, स्वरूपका ध्यान—ये सभी इसमें सहायक हैं । परन्तु निर्भरताका भाव बहुत अधिक सहायक होता है । निर्भरताका अर्थ प्रेमप्राप्तिकी उत्कण्ठाका ह्रास नहीं है । उत्कण्ठा बढ़ती रहे, भगवान्के प्रेमके लिये प्राण तड़पते रहें, हृदयमें विरहाग्निकी ज्वाला धधक उठे । परन्तु साधन एकमात्र निर्भरता हो । अपने पुरुषार्थका बल कुछ भी न रहे । प्राणोंकी आकुल तड़प, हृदयकी प्रदीप्त अग्नि ही निरन्तर तड़पाती और जलाती रहे, और वह तड़पन और ताप ही जीवनका आधार भी रहे । रक्त-मांसको खा डालनेवाली यह आग ही प्राणोंकी रक्षा करती रहे । बड़े सौभाग्यसे इस आगमें जलते हुए, इसी आगको प्राणाधार बनानेका सुअवसर प्राप्त हुआ करता है । उस समय यही चाह हुआ करती है कि प्राणाधार ! यह आग कभी न बुझे और उत्तरोत्तर बढ़ती रहकर, मुझे जला-जलाकर सुख पहुँचाती रहे । प्रेमकी प्राप्तिका तो मुझे अधिकार ही नहीं । मेरा तो अधिकार बस जलनेका है । जलता ही रहूँ !

---

(६४)

संस्कृति—विनाशकी ओर

आपका पत्र मिला ! आजका युवक जिस पथपर चल रहा है मेरी तुच्छ सम्मतिमें वह विनाशका पथ है। कम-से-कम हमारी भारतीय संस्कृतिके तो सर्वथा प्रतिकूल ही है। पता नहीं, इसका परिणाम क्या होगा। भगवान् मङ्गलमय हैं, इसलिये यह विश्वास तो होता है कि यह विपरीत गति भी हमारे कल्याणके लिये ही है। परन्तु कल्याण किस प्रकार होगा, यह बात समझमें नहीं आती। भगवान्‌की लीला अति विचित्र है, पता नहीं वे किस पर्देसे क्या दृश्य दिखलाना चाहते हैं !

आजका युवक जिस पथपर चलना चाहता है, उसका उद्गमस्थान पश्चिमकी विचारधारा है। भारतीय संस्कृतिके साथ इसका कोई श्रद्धा-का सम्बन्ध तो है ही नहीं, उसके साथ इसका मेल भी नहीं खाता। अध्यात्म और धर्म उसके सामने व्यर्थकी वस्तुएँ हैं। सारे विचारोंका मानदण्ड है केवल अर्थ, केवल भोग। भारतका आदर्श है भगवान् और भगवान्‌के लिये त्याग। भला, उससे इसका मेल कैसे खायगा ? आज भारतकी उन्नतिका झंडा जिस पथकी ओर बढ़ रहा है, खेदके साथ कहना पड़ता है कि वह भारतीय संस्कृतिके ध्वंसका मार्ग है। यह मार्ग तो जड़वादका है। पार्थिव भोग ही इस मार्गके पथिकों-का लक्ष्य है। 'कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।' यह कामभोगपरायणता, पता नहीं हमें कहाँ ले जायगी। आज इसीसे भोगत्यागकी खिल्ली उड़ायी जाती है और भोगविमुखताको मूर्खता कहा जाता है, मानो भोगके बिना उन्नति हो ही नहीं सकती।

इसीसे आज भोगप्राप्तिके लिये हम भारतीय युवकोंको बड़े वेगसे बिना सोचे-समझे अपनी संस्कृतिके विनाशके मार्गपर जाते देख रहे हैं। बस, भोग मिले, आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो, विदेशी शासनका इसीलिये नाश हो कि वह हमारी भोगकामनामें—आर्थिक स्वतन्त्रतामें बाधक है। भोगकामनामें बाधा देनेवाले ईश्वरका, धर्मका, माता-पिताका, गुरुजनोंका, अपनी संस्कृतिका—किसीका भी तिरस्कार करनेसे उसे इनकार नहीं है। किसीके स्वार्थका नाश करना हो, किसीको पीड़ा पहुँचानी हो, कोई परवा नहीं, हमारी भोगलालसाका कण्टक दूर होना चाहिये !

वर्णाश्रमधर्म, पातिव्रतधर्म, खान-पानका संयम, स्वामी-सेवक या गुरु-शिष्यके भाव भी इसीलिये नष्ट हो जाने चाहिये कि इनसे उच्छृङ्खलतामयी भोग-वासनामें किसी-न-किसी तरह न्यूनाधिक रूपसे बाधा पहुँचती है। इसीसे आज मनमाने विवाह, हर किसीकी जूँठन खाने, स्त्रियोंको पुरुषोंके विरुद्ध उभाड़ने, हरिजनोंको उच्च वर्णोंके साथ लड़ाने, किसान-जमींदारोंमें झगड़ा खड़ा करने, मालिकोंके साथ मजदूरोंका विरोध कराने आदिमें जनहित समझा जाता है, और दम्भसे नहीं, स्वार्थसे नहीं—बहुत-से महानुभाव तो सचमुच इसीमें जनकल्याण समझकर ऐसा करते-कराते हैं। इसका प्रधान कारण हमारी संस्कृतिके महत्त्वज्ञानका अभाव ही है। शिक्षापद्धति और पाश्चात्त्य देशीय साहित्यका प्रचार इसमें विशेष सहायक हो रहा है। इसीसे आज जगह-जगह कलह और हिंसा-द्वेषका बोलबाला हो रहा है। युवती बालिकाएँ माता-पिताको रुलाकर आये दिन अपने गुरुओंके साथ भाग रही हैं। पुत्र पिता-माताकी आज्ञा नहीं मानकर

उन्हें अपने मतके अनुकूल बनाना चाहते हैं। जो सौम्य प्रकृतिके हैं, वे मा-बापको रुलाकर भाग निकलते हैं, आत्महत्या कर बैठते हैं; और जो कठोर प्रकृतिके हैं, वे तीव्र आग्रह करके बलपूर्वक माता-पिताको बाध्य करते हैं। मा-बाप चुपचाप आँसू पोंछ लेते हैं और हृदयसे रोते हुए स्नेहवश सन्तान-सुखकी कामनासे उन्हें मनमाना करने देते हैं!

स्त्रियोंमें तलाककी बात उठने लगी है। हिंदू-स्त्री तो आज भी इस गिरी अवस्थामें भी घरकी रानी हैं। आज भी, सब नहीं तो, भारतकी अधिकांश स्त्रियाँ घरमें अपने स्वामित्वका गौरव अनुभव करती हैं। परन्तु पाश्चात्य उच्छृङ्खलतामयी सभ्यताका असर यहाँ भी—हमारी युवती बहिनोंपर भी होने लगा है। वे यह नहीं सोचतीं कि स्त्री-पुरुषका आध्यात्मिक बन्धन यदि नष्ट हो गया, और यदि उनका पारस्परिक सम्बन्ध केवल भोग या रुपयेके लिये ही रह गया तो वही दशा होगी जो आज यूरोपमें हो रही है। यूरोपमें जब विवाह होता है, तब पत्नीके नाम प्रायः अलग रुपये जमा करने पड़ते हैं। कम-से-कम वहाँकी स्त्रियाँ अपने भावी पतियोंसे इतना तो लिखवा ही लेती हैं कि वे उनको साप्ताहिक खर्चके लिये इतने पैसे देंगे। विषयोपभोगके लिये स्त्रीकी आवश्यकता है तो रुपये देने ही पड़ेंगे। सम्बन्ध है तो केवल रुपयोंको लेकर ही है। पिछले दिनों यहाँ एक Wives Trade Union नामक संस्था बनी थी, इसका उद्देश्य है स्त्रियोंको पतियोंसे आर्थिक अधिकार प्राप्त कराना। इस संस्थाकी एक प्रधान महिलाने अभी कहा है—'पति बहुत जुल्म करते हैं, वे पत्नियोंको सिर्फ भोजन, वस्त्र और रहनेके लिये स्थान ही देते हैं।

स्त्रियाँ दिन-रात घरका काम करती हैं, बच्चोंका पालन-पोषण करती हैं; फिर भी उन्हें कोई निश्चित वेतन नहीं मिलता। न उन्हें बीमाका फायदा मिलता है, न छुट्टी मिलती है और न पेन्शन ही!' जब हमारे यहाँकी स्त्रियाँ भी स्वतन्त्र हो जायँगी, आफिसोंमें काम करने लगेंगी, पतियोंपरसे उनके पालनका भार कम हो जायगा, तब यहाँ भी यही दशा होगी। यह उन्नति है या अवनति, उत्थान है या पतन? क्या कहा जाय! स्थिति देखकर सब रोते हैं, परन्तु चलते हैं उसी मार्गपर। यही तो मोह है। हमारा आजका सुधार तो सचमुच संहार ही है!!

(६५)

असुर-मानव

आपका कृपापत्र मिला। संसारकी वर्तमान दुर्दशापर मैं क्या लिखूँ। यों तो सब भगवान्‌का ही विधान है; परन्तु लौकिक दृष्टिसे तो आज सारा संसार एक-दूसरेके विनाशमें लगा है। जल, थल और आकाश—आज सभी विषाग्निकी वर्षासे सन्त्रस्त हैं। सारा भूमण्डल सर्वविनाशी बमोंकी गड़गड़ाहटसे काँप रहा है। अग्निदेवताकी ज्वाला-मयी लपटोंसे सभी जले-भुने जा रहे हैं! मनुष्य आज अपनी मानवताको मारकर असुर–पिशाच बन गया है! लाखों-करोड़ों निरीह नर-नारी मृत्युके मुखमें जा रहे हैं, कोई गोलोंकी मारसे तो कोई पेटकी ज्वालासे! उधर लड़ाकू लोग अपनी रक्त-पिपासाका अकाण्ड ताण्डव कर रहे हैं, तो इधर अर्थगृध्र सुसभ्य मानवप्राणी सभ्यताभरी डकैती करके अपनी रुधिरप्रदिग्ध भोगलालसाको बढ़ा रहे हैं!

अपने-ही-जैसे नर-नारी अभावकी आगमें जलते रहें, सब भयानक शस्त्रोंके शिकार हो जायँ, सबके घर-द्वार राखके ढेर बन जायँ एवं मृत्युकी रक्तजिह्वा पतियों, पुत्रों, पिताओंका रक्त पानकर नारी-जगत्को नरक-यन्त्रणा भोगनेके लिये बाध्य कर दे; पर हम सुरक्षित रहें और इन मरनेवालोंकी मृत्यु-समाधिपर—श्मशानकी विस्तृत भस्मराशिपर हमारे स्वर्ण-प्रासाद निर्मित हों तथा हम धन-सम्मानसे सुसज्जित होकर उनमें थिरक-थिरककर नाचें। यह मानवकी पैशाचिकता—उसकी राक्षसी वृत्ति नहीं तो और क्या है ?

विज्ञानके महारथी भी आज अपनी सारी सृजनशक्तिको महानाश-के प्रयासमें लगा रहे हैं। किस साधनसे कम-से-कम समयमें अल्पायास-से ही अधिक-से-अधिक जनपदोंका—नगरोंका ध्वंस-साधन हो और निरीह नर-नारी कालके कराल गालमें जायँ—इन महारथियोंके महान् मस्तिष्क आज उसीकी खोजमें लगे हैं, मानो महारुद्रकी रौद्र इच्छाकी पूर्तिका इन्होंने ठेका ही ले लिया है। देश-के-देश उजाड़कर उनके खँड़हरोंमें ये अपने विज्ञानकी कीर्ति-पताका फहराना चाहते हैं। यह विज्ञान-जगत्का राक्षसीपन नहीं तो और क्या है ?

विद्वानोंकी विद्वत्ता, नीतिज्ञोंकी नीति और विभिन्न मतवादियों-की गवेषणापूर्ण प्रवृत्ति—सभी मानवताकी हत्याका अभूतपूर्व प्रयास कर रहे हैं। ईश्वर और धर्मकी दुहाई देनेवाले भी आज अपने ईश्वरसे पर-पक्षका संहार और अपना विस्तार चाहते हैं, मानो भिन्न-भिन्न कई परमेश्वर एक-दूसरेका पक्ष समर्थन करते हैं। सभी आसुरी सम्पत्तिको पाकर उन्मत्त हो रहे हैं। इसका परिणाम बड़ा ही भयानक होगा। किसकी हार होगी और किसकी जीत, इसका

पता तो सर्वज्ञ परमेश्वरको है; परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मानवताका संहार होनेपर दुःखकी ऐसी ज्वाला भड़केगी, जो सबकी सारी उछल-कूद मिटाकर उन्हें भस्म कर देगी। इसीके साथ असुर-मानवका विनाश होगा। तभी जगत्में फिर सुख-शान्तिके दर्शन हो सकेंगे।

गीतामें भगवान्ने असुर-मानवकी मति, आसुरी वृत्ति और गतिका बड़ा ही सजीव चित्र चित्रित किया है। उसका कुछ अंश यह है—

वे असुर-मानव क्या करना उचित है और क्या छोड़ना, इसको नहीं जानते। उनमें न पवित्रता होती है, न शुद्ध आचार और न सत्य ही। वे जगत्को बिना आसरे, साररहीन, ईश्वरहीन और स्त्री-पुरुषके संयोगसे, केवल भोग-सुखके लिये ही बना हुआ मानते हैं। इस प्रकारके दृष्टिकोणको धारण करके वे नष्टाशय और मन्दबुद्धि अत्यन्त क्रूर कर्म करते हुए जगत्के अहित और विनाशके लिये ही पैदा होते हैं। उनके जीवन दम्भ, अभिमान और मदसे पूर्ण एवं कभी पूरी न होनेवाली कामनाओंसे घिरे रहते हैं। अज्ञानवश वे असुर-मानव आसुरी आग्रहको पकड़कर और भ्रष्टचरित्र होकर जगत्में भटकते हैं। मरते दमतक वे अनगिनत चिन्ताओंमें चूर रहते हैं। बस, किसी भी तरह मनमाने विषयोंको प्राप्त करना और उन्हें भोगना—एकमात्र यही उनका निश्चित सिद्धान्त होता है। वे आशा—दुराशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे होते हैं। काम और क्रोधपर ही वे निर्भर करते है और विषय-भोगोंके लिये अन्यायपूर्ण उपायोंसे अर्थ-संग्रहमें लगे रहते हैं। वे यही सोचा करते हैं कि आज यह मिल गया, कल वह भी मिल जायगा। हमारे पास इतना

धनैश्वर्य तो हो ही गया है, शेष और भी हो ही जायगा। आज इस वैरीको मारा, शेष शत्रुओंको भी हम धूलमें मिलाकर ही छोड़ेंगे। हम ही तो सबके सञ्चालक और नियामक ईश्वर हैं। सबको हमारे ही इशारेपर चलना पड़ता है। ऐश्वर्यका भोग, तमाम सिद्धियाँ, शक्ति और सुख–सब हमारे ही हिस्सेमें तो आये हैं। हम बड़े धनी हैं, हमारे पीछे विशाल जनता है, है कौन दूसरा हमारी बराबरीका? यज्ञ और दानसे हम देवता और दुखियोंको तृप्त कर देंगे। वे असुर-मानव इस प्रकार अज्ञानविमोहित, अनेकों प्रकारसे विभ्रान्तचित्त, मोह-जालसे समावृत और भोग-विषयोंमें अत्यन्त आसक्त होकर अन्तमें भयानक नरकोंमें पड़ने और उनकी जहरीली गंदगीमें पचते हैं। वे असुर-मानव अपनेको ही सबसे अधिक सम्मान्य मानने और सफलताके घमंडमें चूर हुए निरन्तर धन, मान और मदकी गुलामीमें लगे रहते हैं, और इसी तामसी वृत्तिसे वे मनमाने कार्योंको यज्ञका नाम देकर छाती फुलाते हैं। अहंकार, भौतिक बल, दर्प, काम और क्रोध ही उनके अवलम्बन होते हैं। वे दूसरोंकी निन्दामें—पर-दोषदर्शनमें निरत रहकर सबके शरीरोंमें स्थित अन्तर्यामी मुझ भगवान्‌से ही द्वेष करने लगते हैं। ऐसे द्वेषमूर्ति, पापपरायण, निर्दय नराधमोंको मैं (भगवान्) बार-बार दुःखपूर्ण आसुरी योनियोंमें डालता हूँ। (गीता अध्याय १६, श्लोक ७ से १९ तक देखने चाहिये।)

अब आजके असुर-मानवसे उपर्युक्त लक्षणोंको मिलाकर देखिये।

---

(६६)

कल्कि-अवतार

आपका पत्र मिला, उत्तर लिखनेमें देर हुई, इसके लिये क्षमा करें। कल्कि-अवतार अभी हुआ या नहीं, इस सम्बन्धमें मुझे कुछ

भी पता नहीं। पापमय कलियुगकी समाप्ति हो और श्रीभगवान्‌का मङ्गलमय अवतार हो और हमलोग उनके दर्शन करके सफलजीवन हों, यह कौन नहीं चाहेगा? परन्तु भगवान्‌के अवतारके लिये शास्त्रार्थकी और इतने विज्ञापनकी भी कोई आवश्यकता है, यह बात समझमें नहीं आती। भगवान् यदि प्रकट हो गये हैं तो अपने-आप ही जब उचित समझेंगे, अपना कल्याणमय प्रकाश फैला देंगे। रही कलियुगके बीतनेकी बात, सो इस सम्बन्धमें भी अधिकांश शास्त्रज्ञ विद्वानोंका तो यही मत मालूम होता है कि कलियुगकी समाप्तिमें अभी बहुत विलम्ब है। यह माना जा सकता है कि एक महा-संहार होनेपर दो हजार विक्रम संवत्‌के बाद जगत्‌में कुछ सात्त्विकता आवे, और अशुभ ग्रहकी महादशाके अन्तर्गत शुभ ग्रहकी अन्त-र्दशाके समान कुछ समयतक जगत्‌में आंशिक सुख-शान्तिका विस्तार हो। हाँ, यह निश्चय है कि सनातनधर्म कभी मर नहीं सकता; क्योंकि वह सनातन है। भगवान्‌का धर्म है। भगवान् अनन्त हैं, इसलिये उनका धर्म भी अनन्त है। परन्तु 'कल्कि-अवतारके रूपमें भगवान् अवतीर्ण हो चुके हैं और शीघ्र ही वे प्रकट होकर सनातनधर्मका पुनरुद्धार कर देंगे।' यह बात कुछ गड़बड़-सी मालूम होती है। कल्कि-अवतारके कम-से-कम पाँच वर्णन तो मेरे सामने लिखित आ चुके हैं,—इनमें कौन-सा अवतार सत्य है, इसपर मैं कुछ भी नहीं कह सकता। आप स्वयं ही विचार लें। इन पाँचोंका विवरण संक्षेपमें इस प्रकार है—

१—प्रसिद्ध मुसल्मान नेता सर आगाखाँको आगाखानी पंथवाले 'कल्कि-अवतार' मानते हैं और उन्हें 'निष्कलंक' कहते हैं।

इस विषयपर गुजराती भाषामें साहित्य भी प्रकाशित हो चुका है।

२—दक्षिण हैदराबादके एक मौलाना मोहम्मद सिद्दीक दीनदार (चन्द विश्वेश्वर) प्रकारान्तरसे अपनेको 'कल्कि-अवतार' प्रसिद्ध करते हैं। उन्होंने 'सरवरे आलम' नामक एक पुस्तिका छपायी है, जिसमें लिखा है कि 'भागवतमें जिसको 'कल्कि-अवतार' कहा या वह हजरत मोहम्मद था और वह शाल्मलद्वीप (अरब) में हो चुका है!'

३—फाजिल्काके पण्डित राजनारायणजी शास्त्री कलियुगका अन्त बतलाते हैं और कहते हैं कि 'संभल गाँवमें संवत् १९८१ में कल्कि-अवतार हो चुका है। पैदा होते ही उस बालकको परशुरामजी महेन्द्र पर्वतपर उठा ले गये हैं, जो संवत् १९९९ में ऋषि-महर्षियोंसहित बंगालमें प्रकट होंगे और दुष्टोंका संहार करेंगे, यह सब वृत्तान्त भगवान् मुझसे कह गये हैं...............।'

४—अहमदाबादके श्रीहरेराम शर्मा कहते हैं कि संभल ग्राम चीन देशसे उत्तरमें है, पूर्वोत्तरमें मंचूरिया है, उसके नीचे खाडीलिया शिखर है, वहाँ बालूका विशाल मैदान है। वहाँ बाहरका कोई भी मनुष्य प्राणी जा नहीं सकता—वही संभल प्रदेश है। इस संभलमें तपस्वी विष्णुयशजी पिता और सुमति देवी मातासे संवत् १९८१ वैशाख शुक्ला द्वितीयाको कल्किजीका जन्म हो चुका है। वे संवत् १९९९ वैशाख शुक्ला द्वितीयाको पृथ्वीपर पधारेंगे।'

५—एक भक्त देवी हमारे एक परिचित स्वामीजी महाराजको स्पष्ट शब्दोंमें कल्कि-अवतार घोषित करती हैं और इसका प्रचार भी करना चाहती हैं।

ये पाँच तो लिखित वर्णन हैं, इनके अतिरिक्त कई और भी

अवतार बतलाये जाते हैं। मेरी बुद्धि तो इस विषयमें कुछ भी काम नहीं करती कि इनमें किनको वास्तविक कल्कि-अवतार माना जाय।

इनमें मुसलमानोंके प्रचारका तरीका, भक्तोंकी सच्ची भावुकता, शिष्योंकी श्रद्धा, कल्पनाकी सृष्टि, नाम और धन कमानेकी इच्छा और अपना सरल विश्वास आदि अनेकों कारण हो सकते हैं। कुछ कहा नहीं जा सकता।

मेरी राय तो यह है कि इस बखेड़ेमें न पड़कर हमलोगोंको शुद्ध मनसे भगवान्‌का भजन करते रहना चाहिये। भगवान् वास्तवमें अवतीर्ण हुए होंगे तो स्वयं ही प्रकट हो जायँगे। व्यर्थमें शास्त्रार्थ और विवादमें पड़कर अपनी साधनामें विघ्न नहीं डालना चाहिये। भगवान्‌के स्वागतकी तैयारी तो सदा ही कर रखनी चाहिये। वह तैयारी है हमारे हृदयके शुद्ध विचार, उच्च सात्त्विक भाव और शुद्ध सात्त्विक कर्म। जिसका हृदय शुद्ध होगा, विचार और भाव शुद्ध होंगे, कर्म शुद्ध और सात्त्विक होंगे तथा हममेंसे जो अपना प्रत्येक क्षण व्याकुलताके साथ भगवान्‌की प्रतीक्षामें बितावेगा, उसके लिये तो भगवान्‌का अवतार किसी भी समय हो सकता है, कलियुग रहे या न रहे। इस भगवद्दर्शनमें कलियुग बाधक नहीं होता। श्रीमद्भागवतके इस श्लोकके अनुसार आपको तो निरन्तर भगवान्‌की प्रतीक्षामें ही रहना चाहिये

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥
(६। ११। २६)

'जैसे घोंसलेमें पड़े हुए बिना पाँखके पक्षियोंके बच्चे माताको, रस्सीमें बँधे हुए भूखे बछड़े स्तन पीनेके लिये गौको और दूर देश गये हुए पतिके विरहमें खिन्न प्रिय पत्नी बड़ी ही व्याकुलताके साथ पतिको देखनेकी इच्छा करती है, वैसे ही हे कमलनयन! मेरा मन तुम्हें देखनेकी इच्छा करता है।'*

(६७)

वर्तमान दुःसमयमें हमारा कर्तव्य

आपका लिखना सत्य है कि आजकल सभी ओर ईश्वर और धर्मपर अश्रद्धा बड़े जोरोंसे बढ़ रही है। लोगोंमें इस तरहकी भावना पैदा हो रही है कि ईश्वर और धर्मको मानना मूर्खता और परम्परागत कुसंस्कारका परिणाम है। ऐसी अवस्थामें धर्म और ईश्वरको माननेवाले लोगोंको उचित है कि वे यथासाध्य अपने कर्तव्यका पालन करें, और धर्म तथा ईश्वरके न माननेसे होनेवाले दुष्परिणामों—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तापोंसे देशको बचानेके लिये निम्नलिखित साधनोंका उपयोग करें।

१—सभी लोग प्रतिदिन नियमितरूपसे भगवान्‌से प्रार्थना करें।

२—सभी लोग प्रतिदिन भगवान्‌के नामका जाप करें। विश्वास-पूर्वक की जानेवाली भगवान्‌की प्रार्थना और उनके नाम-जपसे सारे पाप-ताप नष्ट हो सकते हैं, यह निश्चित है।

३—धनी लोग प्रार्थना और जापके अतिरिक्त खुले हाथों धर्मकी रक्षाके लिये दान करें। देखा जाय तो बहुत-से धनी तो

* यह पत्र ज्येष्ठ, संवत् १९९४ में लिखा गया था।

दान करते ही नहीं; जो करते हैं वे नामके लिये प्रायः ऐसे ही कामोंमें दान करते हैं जिनसे उलटे अधर्मकी वृद्धि और धर्मपर कुठाराघात ही होता है। धनियोंको इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। अधार्मिक भावना विशेषरूपसे फैल गयी तो उन्हें भी बहुत अधिक नुकसान उठाना पड़ेगा।

४—मठाधीशों, महन्तों, गुरुओं और आचार्यों आदिको त्यागी, सच्चरित्र और विद्वान् बनना चाहिये। वे अपनेको धर्मका रक्षक मानते हैं और जब उनके ही चरित्र आदर्श न हों, कलङ्कपूर्ण हों तो लोगोंमें धर्म और ईश्वरपर श्रद्धा कैसे रह सकती है। गुरुवर्ग सदाचारी, पूर्णत्यागी, ईश्वरनिष्ठ, धर्म-परायण और विद्वान् हो जाय तो धर्मकी रक्षा बहुत आसानी-से हो सकती है।

५—स्त्रियोंको पतिपरायणा होना चाहिये और नयी लहरमें न बहकर सतीत्व-धर्मका आदर्श कायम रखना चाहिये।

---

(६८)

कुछ व्यवहार-सम्बन्धी बातें

पत्नीके साथ कैसा व्यवहार किया जाय ?

आपकी शंकाओंका समाधान आपके अपने विवेकसे ही होगा। आपका विशेष आग्रह है, इसलिये इस सम्बन्धमें मेरे विचार सेवामें लिखता हूँ। यदि आपको अपने कर्तव्य-निर्णयमें इनसे कुछ सहायता मिलनेकी सम्भावना दीख पड़े तो आप इनका उपयोग कर सकते हैं।

यह सत्य है कि सब विषयोंमें स्त्री-पुरुषका समानाधिकार दोनोंके हितके लिये ही अवाञ्छनीय है, और ऐसा समानाधिकार सम्भव भी नहीं है। स्त्री-पुरुषके पारस्परिक सुखके लिये और समाज-व्यवस्थाके सुचारुरूपसे सञ्चालित होनेके लिये दोनोंमें कार्योंका और मर्यादाओंका भेद आवश्यक है। यह भी सत्य है कि हिंदूधर्मशास्त्र-के अनुसार स्त्रीका धर्म है कि वह पतिको परमेश्वरका स्वरूप समझ-कर उसकी सेवा करे। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझ लेना चाहिये, कि पुरुषको जबरदस्ती परमेश्वरके पदपर बैठकर स्त्रीसे दासता करानेका हक है। यह स्त्रीधर्म है, और इसका उद्देश्य महान् है। परमात्माकी सृष्टिमें स्त्री-पुरुष दोनोंकी ही आवश्यकता है और अपने-अपने क्षेत्रमें दोनोंका ही महत्त्व है। परन्तु जीवदृष्टिसे दोनों ही भगवान्‌के एक-से अंश हैं। और मनुष्यके नाते परमात्माकी प्राप्तिका अधिकार दोनोंको ही है। पर समाजकी सुश्रृङ्खलाके लिये दोनोंके क्षेत्र और कार्यविभाग अलग-अलग हैं। अपने-अपने क्षेत्रमें रहकर अपने-अपने कर्तव्यकर्म करते हुए ही दोनों भगवत्प्राप्तिके मार्गमें अग्रसर हों, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये। भगवत्प्राप्तिमें प्रधान साधन है भगवदाकार वृत्ति। स्त्रीका क्षेत्र घर है, उसका प्रधान कार्य गृहस्थीकी सम्हाल है, उसकी भगवदाकार-वृत्ति कैसे हो? इसलिये यह विधान किया गया कि स्त्री पतिको परमेश्वर और घरको परमेश्वरका मन्दिर समझे और घर-सन्तानकी सेवा-सम्हाल तथा पतिकी परिचर्याके द्वारा ही चित्तको भगवदाकार बनाकर भगवान्‌को प्राप्त कर ले। इसके अतिरिक्त समाज-व्यवस्था और दाम्पत्यसुख आदिके लिये भी पतिभक्ति आवश्यक है। पर यह स्त्रीका धर्म है। पतिको तो यह मानना चाहिये कि स्त्री

मेरी सहधर्मिणी है, मित्र है, गुलाम नहीं है। उसके साथ ऐसा प्रेमका बर्ताव करना चाहिये जिससे उसको सुख पहुँचे, उसका अपमान न हो, उसे मन-ही-मन रोना न पड़े और साथ ही उसका हितसाधन भी हो। जो पुरुष स्त्रियोंको गुलाम समझकर उनके साथ बुरा व्यवहार करते हैं, उन्हें सदा संत्रस्त रखते हैं, बीमारी आदिमें उनके इलाजका उचित प्रबन्ध नहीं करते और अपने हाथों उनकी सेवा करते सकुचाते हैं, वे मेरी समझसे कर्तव्यसे च्युत होते हैं और पाप करते हैं। आपको चाहिये, आप प्रेमयुक्त बर्तावसे पत्नीका स्वभाव बदलनेकी चेष्टा करें।

बालकको मारना चाहिये या नहीं ?

नीतिमें छठे वर्षसे पंद्रहवें वर्षतक बच्चेको ताड़ना देनेकी बात लिखी है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि माता, पिता, गुरु या अभिभावक उसे निर्दयताके साथ पीटा करें। मार खाते-खाते बच्चे ढीठ हो जाते हैं, तब उनके सुधरनेकी आशा ही नहीं रहती। सबसे बुरी बात तो यह है कि उनका विकास रुक जाता है। ताड़नाका अर्थ उन्हें शृङ्खलामें रखना है, जिससे वे उच्छृङ्खल न होने पावें। बच्चोंको मारना नहीं चाहिये।

वर्तमान स्कूल-कालेज

मैं तो आजकलके स्कूल-कालेजोंसे डरा हुआ हूँ। या तो उनमें आमूल परिवर्तन होना चाहिये, नहीं तो उनमें अपने बच्चोंको भेजनेमें कम-से-कम उनको तो सावधान रहना ही चाहिये, जो हिंदू-संस्कृतिका नाश अपने कुलमें नहीं होने देना चाहते।